"अब तक निगम और माया में जो बात होती, सभी के सामने और खूब ऊँचे स्वर में होती थी, परन्तु अब अकेले में करने लायक बात भी हो गयी। असाधारण और विशेष में ही तो सुख होता है। जिसे पाने में कठिनाई हो, वही पाने की इच्छा होती है। अकेले में और दूसरों के कान की पहुँच से परे होने पर निगम कह बैठता—"वह तस्वीर आपने लौटायी नहीं।""

यशपाल

पाँच बेहतरीन कहानियाँ

पाँच बेहतरीन कहानियाँ

यशपाल

वाणी प्रकाशन

क्रम

मक्रील

गरमी का मौसम था। 'मक्रील' की सुहावनी पहाड़ी। आबोहवा में छुट्टी के दिन बिताने के लिए आयी सम्पूर्ण भद्र जनता खिंच कर मोटरों के अड्डे पर—जहाँ पंजाब से आने वाली सड़क की गाड़ियाँ ठहरती हैं—एकत्र हो रही थी। सूर्य पश्चिम ओर देवदारों से छायी पहाड़ी की चोटी के पीछे सरक गया था। सूर्य का अवशिष्ट प्रकाश चोटी पर उगे देवदारों से ढकी आग की दीवार के समान जान पड़ता था।

ऊपर आकाश में मोर-पूँछ के आकार में दूर-दूर तक सिन्दूर फैल रहा था। उस गहरे अर्गवनी रंग के पर्दे पर ऊँची, काली चोटियाँ निश्चल, शान्त और गम्भीर खड़ी थीं। सन्ध्या के झीने अँधेरे में पहाड़ियों के पार्श्व के वनों से पक्षियों का कलरव तुमुल परिमाण में उठ रहा था। वायु में चीड़ की तीखी गन्ध भर रही थी। सभी ओर उत्साह, उमंग और चहल-पहल थी। भद्र महिलाओं और पुरुषों के समूह राष्ट्र के मुकुट को उज्ज्वल करने वाले कवि के सम्मान के लिए उतावले हो रहे थे।

योरप और अमेरिका ने जिसकी प्रतिभा का लोहा मान लिया, जो देश के इतने अभिमान की सम्पत्ति है, वही कवि 'मक्रील' में कुछ दिन स्वास्थ्य सुधारने के लिए आ रहा है। मक्रील में जमी राष्ट्र-अभिमानी जनता, पलकों के पाँवड़े डाल उसकी अगवानी के लिए आतुर हो रही थी।

पहाड़ियों की छाती पर खिंची धूसर लकीर-सी सड़क पर दूर धूल का एक बादल-सा दिखाई दिया। जनता की उत्सुक नज़रें और उँगलियाँ उस ओर उठ गयीं। क्षण भर में धूल के बादल को फाड़ती हुई काले रंग की एक गतिमान वस्तु दिखाई दी। वह एक मोटर थी। आनन्द की हिलोर से जनता का समूह लहरा उठा। देखते ही देखते मोटर आ पहुँची।

जनता की उन्मत्तता के कारण मोटर को दस कदम पीछे ही रुक जाना पड़ा—'देश के सिरताज की जय!' 'सरस्वती के वरद पुत्र की जय!' 'राष्ट्र के मुकुट-मणि की जय!' के नारों से पहाड़ियाँ गूँज उठीं।

मोटर फूलों से भर गयी। बड़ी चहल-पहल के बाद जनता से घिरा हुआ, गजरों के बोझ से गर्दन झुकाये, शनैः शनैः कदम रखता हुआ मक्रील का अतिथि मोटर के अड्डे से चला।

उत्साह से बावली जनता विजयनाद करती हुई आगे-पीछे चल रही थी। जिन्होंने कवि का चेहरा देख पाया, वे भाग्यशाली विरले ही थे। 'धवलगिरि' होटल में दूसरी मंजिल पर कवि को टिकाने की व्यवस्था की गयी थी। वहाँ उसे पहुँचा, बहुत देर तक उसके आराम में व्याघात कर, जनता अपने स्थान को लौट आयी।

क्वार की त्रयोदशी का चन्द्रमा पार्वत्य-प्रदेश के निर्मल आकाश में ऊँचा उठ अपनी शीतल आभा से आकाश और पृथ्वी को स्तम्भित किये था। उस दूध की बौछार में 'धवलगिरि' की हिमधवल दोमंजिली इमारत चाँदी की दीवार-सी चमक रही थी। होटल के आँगन की फुलवारी में खूब चाँदनी थी, परन्तु उत्तर-पूर्व के भाग में इमारत के

बाजू की छाया पड़ने से अँधेरा था। बिजली के प्रकाश से चमकती खिड़कियों के शीशों और पर्दों के पीछे से आने वाली मर्मध्वनि तथा नौकरों के चलने-फिरने की आवाज़ के अतिरिक्त सब शान्त था।

उस समय इस अँधेरे बाज के नीचे के कमरे में रहने वाली एक युवती, फुलवारी के अन्धकारमय भाग में एक सरो के पेड़ के समीप खड़ी, दूसरी मंज़िल में पुष्प-तोरणों से सजी उन उज्ज्वल खिड़कियों की ओर दृष्टि लगाये थी, जिनमें सम्मानित कवि को ठहराया गया था।

वह युवती भी उस आवेगमय स्वागत में सम्मिलित थी। पुलकित हो उसने भी 'कवि' पर फूल फेंके थे, जयनाद भी किया था। उस घमासान भीड़ में समीप पहुँच एक आँख कवि के देख लेने का अवसर उसे न मिला था। इसी साध को मन में लिये वह उस खिड़की की ओर टकटकी लगाये खड़ी थी। काँच पर कवि के शरीर की छाया उसे जब-तब दिखाई पड़ जाती।

स्फूर्तिप्रद भोजन के पश्चात् कवि ने बरामदे में आ काले पहाड़ों के ऊपर चन्द्रमा के मोहक प्रकाश को देखा। सामने सँकरी धुँधली घाटी में बिजली की लपक की तरह फैली हुई मक्रील की धारा की ओर नजर गयी। नदी के प्रवाह की गम्भीर घरघराहट को सुन वह सिहर उठा। कितने ही क्षण मुँह उठाये वह मुग्ध-भाव से खड़ा रहा। मक्रील नदी के उद्दाम प्रवाह को उस उज्ज्वल चाँदनी में देखने की इच्छा से कवि की आत्मा व्याकुल हो उठी। आवेश और उन्मेष का वह पुतला सौन्दर्य के इस आह्वान की उपेक्षा न कर सका।

सरो वृक्ष के समीप खड़ी युवती पुलकित भाव से देश-कीर्ति के उस उज्ज्वल नक्षत्र को प्यासी आँखों से देख रही थी। चाँद के धुँधले प्रकाश में इतनी दूर से उसने जो भी देख पाया, उसी से सन्तोष की साँस ले उसने श्रद्धा से सिर नवा दिया। इसे ही अपना सौभाग्य समझ वह चलने को थी कि लम्बा ओवरकोट पहने, छड़ी हाथ में लिये, दायीं ओर के जीने से कवि नीचे आता दिखाई पड़ा। पल भर में कवि फुलवारी में आ पहुँचा।

फुलवारी में पहुँचने पर कवि को स्मरण हुआ, ख्यातनामा मक्रील नदी का मार्ग तो वह जानता ही नहीं। इस अज्ञान की अनुभूति से कवि ने दायें-बायें सहायता की आशा से देखा। समीप खड़ी एक युवती को देख, भद्रता से टोपी छूते हुए उसने पूछा—"आप भी इसी होटल में ठहरी हैं?"

सम्मान से सिर झुका कर युवती ने उत्तर दिया—"जी हाँ।"

झिझकते हुए कवि ने पूछा—"मक्रील नदी समीप ही किसी ओर है, वह शायद आप जानती होंगी?"

उत्साह से कदम बढ़ाते हुए युवती बोली—"जी हाँ। यहीं सौ कदम पर पुल है।" और मार्ग दिखाने के लिए वह प्रस्तुत हो गयी।

युवती के खुले मुख पर चन्द्रमा का प्रकाश पड़ रहा था। पतली भवों के नीचे बड़ी-बड़ी आँखों में मक्रील की उज्ज्वलता झलक रही थी।

कवि ने संकोच से कहा—"न, न, आप को व्यर्थ कष्ट होगा।"

गौरव से युवती बोली—"कुछ भी नहीं—यहीं तो है, सामने!"

...उजली चाँदनी रात में...संगमरमर की सुघड़, सुन्दर, सजीव मूर्ति-सी युवती...साहसमयी, विश्वासमयी मार्ग दिखाने चली सुन्दरता के याचक कवि को। कवि की कविता वीणा के सूक्ष्म तार स्पन्दित हो उठे...सुन्दरता स्वयं अपना परिचय देने चली...सृष्टि सौन्दर्य के सरोवर की लहर उसे दूसरी लहर से मिलाने ले जा रही है—कवि ने सोचा।

सौ कदम पर मक्रील का पुल था। दो पहाड़ियों के तंग दर्रे में से उद्दाम वेग और घनघोर शब्द से बहते हुए जल के ऊपर तारों के रस्सों में झूलता हलका-सा पुल लटक रहा था। वे दोनों पुल के ऊपर जा खड़े हुए। नीचे तीव्र वेग से लाखों-करोड़ों पिघले हुए चाँद बहते चले जा रहे थे, पार्श्व की चट्टानों से टकरा कर वे फेनिल हो उठते। फेनराशि से दृष्टि न हटा कवि ने कहा—"सौन्दर्य उन्मत्त हो उठा है।" युवती को जान पड़ा, मानो प्रकृति मुखरित हो उठी है।

कुछ क्षण पश्चात् कवि बोला—"आवेग में ही सौन्दर्य का चरम विकास है। आवेग निकल जाने पर केवल कीचड़ रह जाता है।"

युवती तन्मयता से उन शब्दों को पी रही थी। कवि ने कहा—"अपने जन्म-स्थान पर मक्रील न इतनी वेगवती होगी, न इतनी उद्दाम। शिशु की लटपट चाल से वह चलती होगी, समुद्र में पहुँच वह प्रौढ़ता की शिथिल गम्भीरता धारण कर लेगी।"

"अरी मक्रील! तेरा समय यही है। फूल न खिल जाने से पहले इतना सुन्दर होता है और न तब जब उसकी पँखुड़ियाँ लटक जायँ। उसका असली समय वही है, जब वह स्फुटोन्मुख हो। मधुमाखी उसी समय उस पर निछावर होने के लिए मतवाली हो उठती है।" एक दीर्घ निःश्वास छोड़, आँखें झुका, कवि चुप हो गया।

मिनिट पर मिनिट गुजरने लगे। सर्द पहाड़ी हवा के झोंके से कवि के वृद्ध शरीर को समय का ध्यान आया। उसने देखा, मक्रील की फेनिल श्वेतता, युवती की सुघड़ता पर विराज रही है। एक क्षण के लिए कवि 'घोर शब्दमयी प्रवाहमयी' युवती को भूल मूक युवती का सौन्दर्य निहारने लगा। हवा के दूसरे झोंके से सिहर कर वह बोला—"समय अधिक हो गया है, चलना चाहिए।"

लौटते समय मार्ग में कवि ने कहा—"आज त्रयोदशी के दिन यह शोभा है। कल और भी अधिक प्रकाश होगा। यदि असुविधा न हो तो क्या कल भी मार्ग दिखाने आओगी?" और स्वयं ही संकोच के चाबुक की चोट खाकर वह हँस पड़ा।

युवती ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया—"अवश्य।"

सर्द हवा से कवि का शरीर ठिठुर गया था। कमरे की सुखद ऊष्णता से उसकी जान में जान आयी। भारी कपड़े उतारने के लिए वह परिधान की मेज (ड्रेसिंग टेबल) के सामने गया। सिर से टोपी उतार उसने ज्यों ही नौकर के हाथ में दी, बिजली की तेज रोशनी से सामने आईने में दिखाई पड़ा मानो उसके सिर के बालों पर राज ने चूने से भरी कूची का एक पोत दे दिया हो और धूप में सुखाये फल के समान झुर्रियों से भरा चेहरा!

नौकर को हाथ के संकेत से चले जाने को कह वह दोनों हाथों

से मुँह ढक कुर्सी पर गिर-सा पड़ा। मुँदी हुई पलकों में से उसे दिखाई दिया—चाँदनी में संगमरमर की उज्ज्वल मूर्ति का सुघड़ चेहरा जिस पर यौवन की पूर्णता छा रही थी, मक्रील का उन्माद भरा प्रवाह! कवि की आत्मा चीख उठी—यौवन! यौवन!

ग्लानि की राख के नीचे बुझती चिनगारियों को उमंग के पंखे से सजग कर, चतुर्दशी की चाँदनी में मक्रील का नृत्य देखने के लिए कवि तत्पर हुआ। 'घोषमयी' मक्रील को कवि के यौवन से कुछ मतलब न था, और 'मूक मक्रील' ने पूजा के धपू-दीप के धूम्रावरण में कवि के नखशिख को देखा ही न था इसलिए वह दिन के समय संसार की दृष्टि से बचकर अपने कमरे में ही पड़ा रहा। चाँदनी खूब गहरी हो जाने पर मक्रील के पुल पर जाने के लिए वह शंकित हृदय से फुलवारी में आया। युवती प्रतीक्षा में खड़ी थी।

कवि ने धड़कते हुए हृदय से उसकी ओर देखा—आज शाल के बदले वह शुतरी रंग का ओवरकोट पहने थी, परन्तु उस गौर, सुघड़ नख-शिख को पहचानने में क्या भूल हो सकती थी!

कवि ने गद्‌गद स्वर से कहा—"ओहो! आपने बात रख ली, परन्तु इस सदी में, कुसमय! शायद उसके न रखने में ही अधिक बुद्धिमानी होती। व्यर्थ कष्ट क्यों कीजिएगा? ...आप विश्राम कीजिए!"

युवती ने सिर झुका उत्तर दिया—"मेरा अहोभाग्य है, आपका सत्संग पा रही हूँ।"

कंटकित स्वर से कवि बोला—"सो कुछ नहीं, सो कुछ नहीं।"

पुल के समीप पहुँच कवि ने कहा—"आपकी कृपा है, आप मेरा साथ दे रही हैं। ...संसार में साथी बड़ी चीज़ है।" मक्रील की ओर संकेत कर, "यह देखिए, इसका कोई साथी नहीं, इसीलिए हाहाकार करती साथी की खोज में दौड़ती चली जा रही है।"

स्वयं अपने कथन की तीव्रता के अनुभव से संकुचित हो, हँसने का असफल प्रयत्न कर, अप्रतिभ हो वह प्रवाह की ओर दृष्टि गड़ाये खड़ा रहा। आँखें बिना ऊपर उठाये ही उसने धीरे-धीरे कहा—"पृथ्वी

की परिक्रमा कर आया हूँ...कल्पना में सुख की सृष्टि कर जब मैं गाता हूँ, संसार पुलकित हो उठता है। काल्पनिक वेदना के मेरे आर्तनाद को सुन संसार रोने लगता है परन्तु मेरे वैयक्तिक सुख-दुख से संसार को कोई सम्बन्ध नहीं। मैं अकेला हूँ, मेरे सुख को बँटाने वाला कहीं कोई नहीं, इसलिए वह विकास न पा तीव्र दाह बन जाता है। मेरे दुःख का दुर्दम वेग असह्य हो जब उछल पड़ता है, तब भी संसार उसे विनोद का ही साधन समझ बैठता है। मैं पिंजरे में बन्द बुलबुल हूँ। मेरा चहकना संसार सुनना चाहता है। मैं सुख से पुलकित हो गाता हूँ, या दुःख से रोता हूँ इसकी चिन्ता किसी को नहीं...।

"काश! जीवन में मेरे सुख-दुख का कोई एक अवलम्ब होता। मेरा कोई साथी होता! मैं अपने सुख-दुख का एक भाग उसे दे, उसकी अनुभूति का भाग ग्रहण कर सकता! मैं अपने इस निस्सार यश को दूर फेंक संसार का जीव बन जाता।"

कवि चुप हो गया। मिनिट पर मिनिट बीतने लगे। ठण्डी हवा से जब कवि का बूढ़ा शरीर सिहरने लगा, दीर्घ निःश्वास से उसने कहा—"अच्छा, चलें।"

द्रुतवेग से चली जाती जलराशि की ओर दृष्टि किये युवती कम्पित स्वर में बोली—"मुझे अपना साथी बना लीजिए।"

मक्रील के गम्भीर गर्जन में विडम्बना की हँसी का स्वर मिलाते हुए कवि बोला—"तुम्हें?" और चुप रह गया।

शरीर काँप उठने के कारण पुल के रेलिंग का आश्रय ले युवती ने लज्जा-विजड़ित स्वर में कहा—"मैं यद्यपि तुच्छ हूँ..."

"न-न-न यह बात नहीं" कवि सहसा रुक कर बोला—"उल्टी बात...हाँ, अब चलें।"

फुलवारी में पहुँच कवि ने कहा—"कल..." परन्तु बात पूरी कहे बिना ही वह चला गया।

अपने कमरे में पहुँच कर सामने आईने की ओर दृष्टि न करने का

भस्मावृत्त चिंगारी

वह मेरे पड़ोस में रहता था। उसके प्रति मुझे एक प्रकार की श्रद्धा थी। उसका व्यवहार एक रहस्य के कोहरे से घिरा था। रहस्य बनावट का नहीं जो आशंकित कर देता है; सरलता का रहस्य, जो आकर्षण और सहानुभूति पैदा करता है। वह साधारण से भिन्न था, शायद साधारण से कुछ ऊँचा।

उसके बड़े और छोटे भाइयों ने अपने श्रम से पिता की कमायी सम्पत्ति की बुनियाद पर स्वतन्त्र कारोबार की इमारतें सफलतापूर्वक खड़ी कर ली थीं। वे सफल गृहस्थ और सम्मानित नागरिक बन गये थे। वे पुराने परिवार-वृक्ष की कलमों के रूप में नयी भूमि पा, नये परिवारों की लहलहाती शाखाओं के रूप में कल्ला उठे थे। पिता को अपने दोनों पुत्रों की सफलता पर गर्व और सन्तोष था।

और वह सब सुविधा और अवसर होने पर और अपने शैथिल्य के कारण पिता की अधिक करुणा पाकर भी कुछ न बन सका। उसने यत्न ही नहीं किया। उसके पिता को इससे उदासी और निरुत्साह हुआ; परन्तु मैं उसका आदर करता था। उसमें लोभ न

था। वह सन्तोष की मूर्ति था। व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा उसमें न थी। वह त्यागी था। यही तो तपस्या है।

पिता की मृत्यु के बाद दोनों कर्मठ व्यापारी भाइयों ने हजारों की आमदनी होते हुए भी जब उत्तराधिकार की सम्पत्ति के बँटवारे में पाई-पाई का हिसाब कर, उसे केवल दो पुराने मकान देकर ही निबटा दिया; उसने कोई चिन्ता या व्यग्रता प्रकट न की। भाइयों की अपने से दस-बीस गुना अधिक आमदनी के प्रति उसे कभी ईर्ष्या करते नहीं देखा। घर में अर्थ-संकट अनुभव करके भी उसे कभी विचलित होते नहीं देखा। उसकी शान्त और सौन्दर्य की वृत्ति सभी जगह शान्ति और सौन्दर्य पा सकती थी। इनका स्रोत उसके भीतर था। वह अन्तर्मुख और आत्मरत था। कला के लिए उसका जीवन था और कला ही उसके प्राण थी। कला से किसी प्रकार की स्वार्थ साधना उसे कला का अपमान जान पड़ता था।

उसके परिचय का क्षेत्र अधिक विस्तृत न था। परिचय से उसे घबड़ाहट होती थी। उसके चित्रों से प्रभावित होकर मैंने स्वयं ही उससे परिचय किया था। वह कुछ सकुचाया और फिर जैसे उसने मुझे सह लिया और आन्तरिकता भी बढ़ती गयी। कभी वह संध्या, दोपहर या बिलकुल तड़के ही आ बैठता। उसका समय कोई निश्चित न था। कभी अकेले ही शहर से चार-पाँच मील दूर जाकर बैठा रहता। उसका सब समय प्रायः किर्मिच मढ़ी टिकटी के आस-पास रंग-घुली प्यालियों और कूचियों के चक्कर में बीत जाता था।

वह बहुत कम बोलता था। जब बोलता उसमें बहुत-सी विचित्र बातें रहती थीं। सहमत हुए बिना भी उनकी कद्र करनी पड़ती थी। क्योंकि वह एक असाधारण व्यक्ति की बातें थीं। सूख कर ऐंठ गये पत्तों और सूर्य की किरणों में मकड़ी के जाले पर झलमलाती ओस की बूँदों में उसे जाने क्या-क्या दीखता था?...वह उनमें खो जाता था।

एक दिन मई महीने में ठीक दोपहर के समय मोटर में छावनी से लौट रहा था। सूर्य की किरणों से वाष्प बन रही धूल में, बियावान

सड़क पर उसे अकेले शहर की ओर लौटते देखा। उसके समीप गाड़ी रोक कर पुकारा–"इस समय कहाँ?"

"ऐसे ही जरा घूमने निकला था।" उत्तर मिला।

विस्मयाहत होकर पूछा, "इस धूप में?" कार का दरवाजा उसके लिए खोल कर आग्रह किया, "आओ!"

"नहीं, तुम चलो!" अपनी धोती का छोर थामे, मेरे विस्मय की ओर ध्यान दिये बिना उसने उत्तर दिया।

एक तरह से जबरन ही उसे गाड़ी में बैठा लिया। मजबूरी की हालत में मेरे समीप कुछ क्षण चुपचाप बैठकर उसने धीमे से कहा–"देखो कितना सुन्दर है...जैसे पालिश की हुई चाँदी फैल गयी हो! जैसे...जैसे...बरफ पड़ जाने के बाद उसका गुण बदल गया हो ...White heat (श्वेत उत्ताप) और देखो, तरल गरमी की लपटें कैसे पृथ्वी से आकाश की ओर उठ रही हैं; जैसे पृथ्वी गरमी के तारों से धुनी जाकर आकाश की ओर उड़ी जा रही है। मेरी ओर दृष्टि कर उसने कहा–"जरा यह काला चश्मा उतार कर देखो!"

मजबूरन चश्मा उतारना पड़ा। आँखों में जैसे तीर से चुभ गये। और फिर जो उसने कहा था ठीक भी जँचने लगा। सोचा, कितना असाधारण है यह व्यक्ति? यह शायद संसार के लिए एक विभूति है।

ऐसे ही एक दूसरे दिन शरद ऋतु की संध्या के समय बड़े पार्क के किनारे वृक्षों के नीचे से, सूखी घास पर गिरे सूखे, कुड़मुड़ाये पत्तों को रौंदते धोती का छोर थामे, अपना फटा पम्प शू रगड़ते उसे उतावली में चले जाते देखा।

पुकारा। उसने सुना नहीं।

अगले दिन उसके यहाँ जाकर देखा, वह तन्मय किर्मिच-मढ़ी टिकटी के सामने खड़ा कूची से रंग लगा रहा है। बहुत ही सुन्दर चित्र था–हाल में अस्त हुए सूर्य की गहरी, सिन्दूरी आभा आकाश में अर्धवृत्ताकार फैल रही थी। उस पृष्ठ-भूमि पर आकाश की ओर उठी हुई उँगली की तरह एक सूखे पेड़ की टहनी पर श्याम चिरैया

का जोड़ा प्रणयाकुल हो रहा था।

विस्मय-मुग्ध नेत्रों से कुछ देर तक चित्र को देखकर उससे पूछा–"कल तुम पार्क के समीप से जा रहे थे, पुकारा तो तुमने सुना ही नहीं।"

प्रश्नात्मक दृष्टि से उसने मेरी ओर देख, कुछ सोचकर उत्तर दिया–"कल पार्क में चिड़िया के जोड़े को इस प्रकार देखा और वह तुरन्त ही उड़ गया...। सोचा इस चीज को यदि स्थाई रूप दे सकूँ...।"

उसके अनेक चित्रों 'निर्वसन', 'गौरीशंकर', 'गंगा और सागर' ने प्रसिद्धि नहीं पायी परन्तु विश्वास से कह सकता हूँ, जिस दिन पारखी आँखें उन चित्रों को देख पाएँगी, संसार चकित रह जाएगा। मुझे गर्व था ऐसे प्रतिभाशाली कलाकार की मैत्री का।

मेरा विचार था, वह सांसारिकता से तटस्थ है; भावुकता के साम्राज्य में ही वह रहता है। परन्तु एक दिन हम उसी के मकान पर बैठे थे। वह न जाने किस विचार में खो गया। उस चुप से उकता कर भी विघ्न न डाला। सोचा, न जाने किस अमूल्य कृति के अंकुर इसके मस्तिष्क में जन्म पा रहे हों?

समीप के जीने पर उसकी साढ़े तीन बरस की लड़की खेल रही थी। वह अलापने लगी–'पापा...पापा...पापा!' मानों नींद से जाग कर उसने कहा, 'how sweet—कितना मधुर...?' समझा–कलाकार भी मनुष्य होता है।

लक्ष्मी के लिए विद्वानों ने चपला शब्द ठीक ही प्रयोग किया है। वह स्थिर नहीं रहती। कलाकार के एक मकान में भूतों ने डेरा डाल दिया और उसका किराये पर उठना कठिन हो गया। उसकी आमदनी कम होती थी। अच्छे-भले मध्यम श्रेणी के खाते-पीते आदमी से उसकी हालत खस्ता हो गयी, परन्तु उस ओर उसका ध्यान न गया। उपाय सुझाने और स्वयं उपाय कर देने के लिए तैयार होने पर भी उसने इस बात को महत्त्व न दिया। उसे इससे कोई मतलब न था।

त्याग और तपस्या क्या दूसरी चीज होती है?

दूसरे बालक के प्रसव से पहले उसकी स्त्री बीमार हो गयी। वह बीमारी असाधारण थी। खर्च भी असाधारण था। दो महीने में साढ़े तीन हजार रुपया खर्च हो गया। एक मकान पहले से गिरवी था, दूसरा भी हो गया। कोई शिकायत उसे न थी। उसने केवल इतना कहा—"यदि रुपये से मनुष्य के प्राण बच सकते हैं तो वह किसी भी मूल्य पर महँगा नहीं। किसी तरह स्त्री के प्राण बचे।"

इस दारुण संकट के बाद कलाकार की अवस्था और भी शोचनीय हो गयी, परन्तु उसकी तटस्थता में किसी प्रकार का परिवर्तन न आया। फटी चप्पल में भी वह इतना ही सन्तुष्ट था जितना कि ग्लेसकिड के पम्प शू पहने रहने पर।

अनेक दिन तक वह दिखायी न दिया। सुना एक चित्र में व्यस्त है। विघ्न न डालने के विचार से उसके घर भी न गया। मालूम होने पर कि नया चित्र पूरा हो गया, देखने गया।

चित्र का नाम था—'जन्म-मरण।' चित्र में प्रसूतिगृह का दृश्य था और शैय्या पर स्वयं उसकी स्त्री। रोगिणी के जीर्ण, चरम पीड़ा से व्यथित मुख पर मृत्यु का आतंक। उसकी आँखें नवजात शिशु की ओर लगी थीं जो उसकी पीड़ा और यन्त्रणा के मेघ से नक्षत्र की भाँति अभी ही प्रकट हुआ था। प्रसूता के नेत्र प्रभात के आकाश की भाँति कुहासे से धुँधले थे और उसकी पुतलियाँ बुझते हुए तारों की भाँति निस्तेज हो रही थीं। उस दिन इस चित्र को देख चुप रह गया। कुछ कह सकना भी सम्भव न था, परन्तु अनेक दिन तक इस चित्र की स्मृति मस्तिष्क से न उतरी।

समाचार पत्रों में पढ़ा, बम्बई में अखिल भारतीय चित्र-प्रदर्शनी होने जा रही है। कलाकार के सम्मुख उसके चित्र प्रदर्शनी में भेजने का प्रस्ताव किया। उसे उत्साह न था। उसको विश्वास था, स्वयं कला की पूर्णता में ही कला की साधना का फल है।

तर्क अनेक हो सकते हैं। समझाया—कलाकार की प्रतिभा यदि

केवल उसके निजी सन्तोष के लिए ही सीमित न रह कर दूसरों के सन्तोष का भी कारण बन सके तो क्या हानि?

बहुत अनुरोध कर उन चित्रों को अपने खर्च पर बम्बई भिजवाया। प्रायः पन्द्रह दिन बाद प्रदर्शनी के संयोजकों का तार मिला—"यूरोप का कोई व्यापारी 'जन्म-मरण' चित्र के लिए पाँच हजार रुपया कीमत देने के लिए तैयार है।"

चित्र मेरी ओर से भेजे गये थे, इसलिए तार भी मेरे ही नाम आया था। कलाकार की प्रकृति जानने के कारण यह प्रस्ताव उसके सम्मुख रखने में बहुत संकोच हो रहा था, परन्तु यह भी विचार था कि यदि इस चित्र के मूल्य से एक दुखी परिवार का क्लेश दूर हो सकता है तो यह कला का अपमान नहीं है। यह भी सोचा—जो व्यक्ति अपनी कमाई का पाँच हजार रुपया चित्र में अंकित कला और भावना के लिए न्योछावर कर रहा है, वह कलाकार की प्रतिभा और भावना दोनों का ही सत्कार कर रहा है। बहुत सम्भल कर, अत्यन्त संकोच से वह प्रस्ताव उसके सामने रखा। परिणाम वही हुआ जिसकी आशा थी।

तार से सौदा नामंजूर होने की सूचना दे दी। उत्तर आया, ग्राहक दस हजार देने को तैयार है। इस बार और भी अधिक संकोच से कलाकार को सूचना दी। उसने उत्तर दिया—"मैं नहीं चाहता था उन चित्रों को प्रदर्शनी में भेजा जाय। न मैं अपनी भावना का कोई मूल्य स्वीकार करने के लिए तैयार हूँ। तुम उन चित्रों को वापिस मँगवा लो!"

क्रियात्मक क्षेत्र में इसे अव्यावहारिक समझ कर भी कलाकार की त्याग भावना और निःस्वार्थ कला-साधना के प्रति मेरे मन में आदर का भाव बढ़ गया। कलाकार की निष्ठा के प्रत्यक्ष उदाहरण से स्वीकार करना पड़ा, कला जीवन से भी ऊँची वस्तु है, बेशक साधारण जन की पहुँच वहाँ तक नहीं, परन्तु उस कला का अस्तित्व है अवश्य। सांसारिक स्थूलता में लिप्त रह कर हम उस कला के अतीन्द्रिय, सूक्ष्म सन्तोष को पा नहीं सकते। यह न्यूनता कला की

नहीं, हमारी अपनी अयोग्यता है। वह कला उसी प्रकार अनादि, अनन्त है जैसे आत्मा और अपौरुषेय शक्ति का अस्तित्व है। आप्त पुरुषों के अनुभव से ही साधारण पुरुष उसे समझ सकते हैं। कलाकार का सन्तोष इसका अकाट्य प्रमाण था। उस कला की अर्चना में कलाकार के परिवार का बलिदान इस सत्य का प्रमाण था कि कला से प्राप्त सन्तोष जीवन रक्षा की भावना से भी अधिक प्रबल और महान है।

मैं स्वयं कला की वेदी से दूर हूँ। सांसारिकता की अड़चनों से छन कर आये कला के प्रकाश की सूक्ष्म किरणों को ही मैं पा सका हूँ। मैं कला की आराधना उसके पुजारी के प्रति अपनी श्रद्धा और आदर से ही कर सकता था; जैसे यजमान पुरोहित द्वारा यज्ञ कार्य का पुण्य प्राप्त करता है। मेरी उस श्रद्धा का स्थूल रूप था, कला के पुरोहित कलाकार की सेवा के लिए तत्परता।

कलाकार की स्त्री शनैः शनैः बलि होते-होते एक दिन नवजात शिशु को छोड़ चल बसी। कलाकार शोक के आघात से कुछ दिन संज्ञाहीन सा रहा। उसके पुत्र को स्त्री के भाई ले गये। संज्ञा लौटने पर कलाकार के होंठों पर एक मुस्कराहट आ गयी। उसने एक और चित्र बनाया—एक प्रकाण्ड हिमस्तूप की दुरारोह चढ़ाई पर एक क्षीण शरीर तपस्वी चढ़ रहा है। उसकी जीवन संगिनी चढ़ाई में क्लान्त और जर्जर होकर गिर पड़ी है। तपस्वी यात्री दुविधा में है। वह घूम कर अपनी बरफ पर गिर पड़ी निष्प्राण संगिनी की ओर देखता है। दूसरी ओर हिमस्तूप का शिखिर सप्राण-सा हो उसे अपनी ओर आह्वान कर रहा है...।

इस चित्र की भाव-गरिमा से मैं अवाक् रह गया। चित्र क्या था, कलाकार की कूची से उसके जीवन की कहानी और उसके त्याग की महत्त्वाकांक्षा, कला के प्रति उसका सगर्व आत्म-समर्पण था। मैं अभिभूत रह गया; उस महान उद्देश्य से परे लघु जीवन की बात क्या?

फिर भी शंकालु मस्तिष्क में प्रश्न उठ ही आता था—कला की शक्ति जीवन में किस प्रकार चरितार्थ होनी चाहिए? कलाकार ने अपना उत्तर रेखा के स्वरों में लिख कर चित्रपट पर स्थिर कर दिया था। प्रश्न करने पर उसने कहा—"अँधेरे आँगन में एक दीप जलता है। उस दीपक का आलोक बहुत दूर से भी दिखाई पड़ता है और समीप से भी। दीपक की लौ के समीप आने-जाने से प्रकाश को उज्ज्वलता मिलती है और दृष्टि को सुस्पष्टता, परन्तु यह दीपक को प्राप्त कर लेना नहीं है। प्रकाश के इस केन्द्र में है केवल अग्नि।... जो तेल और बत्ती को जलाती है।

"दीपक की लौ प्रकाश की ओर देखने वाले पथिकों की चिन्ता नहीं करती और दीपक जलता रहने के लिए तेल और बत्ती का जलते रहना आवश्यक है।"

कलाकार का शरीर दारिद्र्य और अवसाद से क्षीण होता गया, परन्तु उसके नेत्रों की प्रखरता बढ़ती गयी। वह अपनी साधना में रत था। जितना ही गहरा मूल्य वह अपनी इस आराधना के लिए अदा कर रहा था, उसी अनुपात में उसकी निष्ठा बढ़ती जा रही थी।

बहुत सुबह उठने का अभ्यास मुझे नहीं है, विशेष कर माघ की सर्दी में, परन्तु पिछले दिन थकावट अधिक हो जाने के कारण समय से एक घंटे-पूर्व सो गया था इसलिए उठा भी कुछ पहले। समय होने से बरामदे में खड़ा सामने फुलवाड़ी की ओर देख रहा था, माली कुछ करता भी है या नहीं।

सुबह-सुबह गरम कपड़े पहने, हिरन के खुर जैसे छोटे-छोटे जूतों से खुट-खुट करते बन्नो ने आकर मेरी उँगली थाम ली—"पापा, आम छैर कन्ने जा रए हैं। पापा भैया भी गाड़ी में जा रा है। राधा भी जा रई है। पापा, तुम तुम भी चलो?"

श्रीमती जी शाल में लिपटी बैठी रहती हैं, परन्तु बच्चों को सुबह ही गरम कपड़े पहना कर आया राधा के साथ सूर्य की प्रथम किरणों

के सेवन के लिए सड़क पर भेज देती हैं। कारण—हमारा क्या है; परन्तु बच्चों का स्वास्थ्य ही तो सब कुछ है।

बन्नो मुझे उँगली से खींचे लिये जा रही थी, जैसे ऊँट की नकेल थामे उसका सवार आगे-आगे चला जा रहा हो। चेस्टर में सर्दी से सिकुड़ता हुआ बेटी की आज्ञा के अनुगत चला जा रहा था। वह मुझे सड़क तक ले आयी और छोड़ना न चाहती थी। रात की पोशाक के धारीदार पायजामे में यों आगे जाना उचित न था। बन्नो को बहलाने के लिए इधर-उधर देख रहा था।

हमारे बँगले से लगी बायीं ओर की जमीन खाँ साहब ने ली थी। वह दस बरस से यों ही पड़ी है। उस जमीन पर चारदीवारी तक नहीं खींची गयी थी। अपने बँगले की चारदीवारी की पुश्त पर दृष्टि पड़ी।

देखा सूर्य की प्रथम किरणों में, दीवार के साथ उग आये ओस से भीगे झाड़-झंखाड़ में, एक फटी दरी के तिहाई टुकड़े पर मनुष्य के शरीर का काला ढाँचा-मात्र पड़ा है; समीप टीन का एक डिब्बा और रोटी का ऐंठा हुआ टुकड़ा है। सूती कम्बल का एक टुकड़ा भी जो शरीर से नीचे खिसक आया था, ढाँचे पर पड़ा था। इस सर्दी में वस्त्र सँभालने की सुध उस शरीर में न थी।

क्षण भर में उसके पूर्व इतिहास की कल्पना मस्तिष्क में कौंध गयी—कोई भिखमंगा रात बिता रहा होगा, जाड़े में ऐंठ गया। शरीर निश्चेष्ट था। शायद मर गया?

बच्चों को तुरन्त उस दृश्य से हटाने के लिए राधा के साथ आगे भेज दिया। समीप जाकर देखा। हाथ से स्पर्श में आशंका हुई, शायद कोई छूत की बीमारी हो? परन्तु था तो वह भी मनुष्य ही। छूकर देखा, बहुत क्षीण ऊँ-ऊँ स्वर। कराहट सी सुनाई दी। अभी प्राण थे।

मनुष्य के प्रति करुणा और भय से मन विचलित हो गया। तुरन्त लौट कर हेल्थ-आफिसर अरोड़ा साहब को फोन किया। म्युनिसिपैलिटी की एम्बुलेंस आ गयी। अपनी गाड़ी में मैं भी अस्पताल साथ गया। इधर-उधर कह-सुन कर उसे भरती करवा दिया। दो घण्टे बाद वह

अस्पताल के गद्देदार पलंग पर लेटा था। गरम पानी की बोतलें उसके पाँव और बगल में रख दी गयी थीं। टोंटीदार प्याले से उसके मुँह में ब्राण्डी मिला दूध दिया जा रहा था।

लौटा तो दोपहर हो रही थी। अपने काम का हर्ज अवश्य हुआ परन्तु सन्तोष था। बँगले के भीतर गाड़ी घुमाने से पहले, बँगले की बायीं ओर की खुली जमीन के सामने कलाकार को परेशानी की-सी हालत में भटकी नजरों से कुछ खोजते देखा।

कलाकार के समीप जा पुकारा—"अरे भाई, तुम्हें कैसे मालूम हुआ!...आज सुबह अचानक मेरी दृष्टि पड़ गयी। कुल घण्टे भर का मेहमान था। अब भी बच जाय तो बड़ी बात जानो...ओफ मनुष्य का भी क्या है?...

उसी भटकी मुद्रा में कलाकार ने पूछा—"कहाँ गया वह?"

"अरे भाई उसे ही अस्पताल पहुँचा कर आ रहा हूँ। बड़ी मुश्किल से डॉक्टर से कह-सुनकर भरती कराया...समझो लिहाज था!"

वह जैसे प्रबल निराशा से हताश होकर लौट पड़ा। अनेक बार बुलाने पर भी उसने लौट कर नहीं सुना। बहुत दूर तक मैं पैदल उसके पीछे गया। उसने पलट कर देखा नहीं। बेबसी में लौट आया।

सन्ध्या समय एक जगह जाना जरूरी था, परन्तु कम्पनी की डाक भी जरूरी थी। शीघ्रता से कागज देख-रेख कर दस्तखत करता जा रहा था कि कलाकार चौखटे में मढ़ी किर्मिच लिये कमरे में आ घुसा।

किर्मिच को मेरी ही मेज पर रख कर क्षोभ भरे स्वर में उसने कहा—"दो दिन से इसे बना रहा था। तुमने बेड़ा गर्क कर दिया। अब तुम्हीं इसे सँभालो! अधूरे चित्र को छोड़कर वह लौट गया।

किर्मिच पर अधबने चित्र में सुबह का दृश्य जाग उठा था, वही मृतप्राय भिखमंगा। काले चमड़े से मढ़ा उसका पंजर फटी दरी के टुकड़े पर एड़ियाँ रगड़ता हुआ कला के जादू से अधिक वीभत्स हो उठा था। उसके हाथ, खुले होंठ और हताश आँखें गुहार में आकाश की ओर उठी हुई थीं। चित्र अभी अपूर्ण था, परन्तु उसकी उग्र

वीभत्सता अत्यन्त सजीव थी। पेंसिल की घसीट में चित्र पर उसका शीर्षक लिखा था—'भस्मावृत चिंगारी!'

कलाकार दो दिन से इस चित्र को बना रहा था। दो दिन से वह म्रियमाण नर-कंकाल मृत्यु की यातना सह रहा था कि कला जीवन की चिंगारी के मृत्यु की भस्म से आच्छादित होकर बुझने का दृश्य अपनी सम्पूर्ण दारुण वीभत्सता के सौन्दर्य सहित प्रस्तुत कर सके।

उस नर-कंकाल को उसकी ठण्डी चिता से अस्पताल के पलंग पर हटाकर मैंने कला की पूर्ति में व्याघात डाल दिया था। मेरा यह अनाचार कलाकार के लिए असह्य था।

चित्र में मृत्यु की यातना से गुहार के लिए उठे हुए नर-कंकाल के हाथों से कला मेरे अनाचार के प्रति दुहाई दे रही थी...। कला की आत्मा मेरी भर्त्सना कर रही थी। मैं कला के सम्मुख अपराधी था।

मेरा दुर्भाग्य यह कि मुझे अपने अपराध के लिए पश्चात्ताप का साहस भी नहीं।

वह चित्र, मानवता का चित्र अब भी वैसा ही है।

कलाकार क्षुब्ध है।

कला अपूर्ण है...शायद पूर्णता की प्रतीक्षा में है।

खच्चर और आदमी

पूरण के जीवन के 23 वर्ष दिल्ली और उसके आस-पास ही बीते थे। कभी पहाड़ पर जाने का अवसर नहीं हुआ था। हिमपात देख सकने के लिए उत्कट उत्सुकता से पहली बार शिमला गया था। वहाँ कभी-कभी अच्छी बरफ पड़ जाती है। दो दिन, रात में अनेक बार जोर का हिमपात हो गया। डेढ़-दो फुट बरफ गिर जाने पर हिमपात रुक कर हवा चलने लगी। पूरण का मन हिम दर्शन से अघा गया। वह बरफ में जूता धँसा कर चलने, बरफ हाथों में उठा उसके गोले बना कर फेंकने के कौतूहल के स्थान पर शीत से सिहरन अनुभव करने लगा। शीत, चमड़े के कोट को भी बेंध कर उसे कँपा देता था। उसे बरफ में घूमने की इच्छा न रही।

भार्गव ने मित्र के स्वागत में कमरा गरम करने के लिए बिजली के हीटर के स्थान पर दीवाल में बनी पुराने ढंग की अँगीठी में काठ के कुन्दे सुलगवा दिये थे। खूब अच्छी लपटें उठ रही थीं। भार्गव ने सोफा अँगीठी के समीप खींच लिया। दोनों सोफे पर बैठ गये और सिगरेट सुलगा लिये। सन्मुख आग थी, शरीर पर पर्याप्त कपड़ा था,

परन्तु बर्फानी वायु में घूमते रहने से पूरण के शरीर में इतनी सर्दी रच गयी थी कि आध घण्टे तक आग के सामने बैठ लेने पर भी उसे झुरझुरी अनुभव हो जाती और मुख से निकल जाता--ओफ भयंकर सर्दी है!

"यहाँ सर्दी है? अच्छा-भला गरम कमरा है।" भार्गव ने उपेक्षा से कह दिया, "तुम्हें अभ्यास नहीं है वर्ना शिमला में अधिक सर्दी नहीं होती।"

भार्गव गत पाँच वर्षों से हेमन्त शिमला में ही बिताता है। वह भूगर्भ सर्वेक्षण विभाग के खनिज अनुसन्धान दल में है। इस दल के लोगों को वर्ष में छः मास समुद्र तल से बीस हजार फुट ऊँचे हिमरुद्र स्थानों में खोज कार्य करना होता है। केवल सात हजार फुट ऊँचे शिमला की सर्दी उनके लिए क्या चीज!

. "माई गाड!" पूरण ने आतंक प्रकट किया, "यह कम सर्दी है; और कितनी सर्दी होगी?" पूरण ने सर्दी के सम्बन्ध में भार्गव के विचित्र अनुभव सुनने के लिए उसे उकसाया कि उन अनभुले की तुलना में स्वयं अनुभव होती सर्दी को भुला सके।

भार्गव ने मित्र का अभिप्राय समझ कर उत्तर दिया—"कष्टदायक सर्दी तो होती है, बारह हजार फुट से ऊपर। जहाँ धरती पर और चारों ओर मोटी बर्फ हो, कई दिन तक धूप न मिले, विशेष कर जब गरमी पा सकने के लिए ईंधन भी पास न हो। न खाना गरम किया जा सके, न गरम कॉफी-चाय मिल सके। ऐसे समय प्राण अग की चिनगारी और लौ के लिए तरस जाते हैं।"

"क्या तुम्हें भी कभी ऐसा अनुभव हुआ?" पूरण के नेत्र उत्सुकता से फैल गये।

"केवल एक बार, सोलह दिन तक।"

"प्लीज! कैसे, जरूर बताओ!"

भार्गव ने सुविधा के लिए पूरण की ओर करवट ले ली—"हमारे दल के उस अनुभव का कुछ समाचार तो पत्रों में प्रकाशित हुआ था।

अरे वही लाहौल घाटी की दुर्घटना। अप्रत्याशित या मौसम के अनुमान के रिपोर्ट के विरुद्ध भयंकर हिमपात घाटी के ऊपरी भाग में हो गया और हम लोग फँस गये। उस प्रदेश के लिए चौबीस घण्टे में होने वाले मौसम की सूचना ब्राडकास्ट की जाती है मनाली से। मनाली है समुद्र तल से पाँच-छः हजार फुट की ऊँचाई पर। हमें विश्लेषण के लिए नमूने लेने थे बारह हजार फुट की ऊँचाई पर, चट्टानें फोड़ कर। हमारा कूच का पड़ाव दस हजार फुट पर था। लक्ष्य तक रास्ता पाँच मील से अधिक न था। सदा बर्फ से ढकी रहने वाली चौदह हजार फुट ऊँची एक धार को ही लाँघना था। धार को लाँघने के लिए केवल एक दर्रा है, वह भी तेरह हजार फुट पर। दर्रे के उस ओर हजार फुट नीचे एक बहुत छोटा-सा मैदान है। वहाँ आयुद्ध-महत्त्व (Strategic Importance) के एक पदार्थ के अनुमान में बरमा चलाने का विचार था...।"

"वह पदार्थ मिला?" पूरण टोक बैठा।

"नहीं, तीन वर्ष पूर्व वहाँ फिर यत्न किया गया था। वह अनुमान ठीक न था।" भार्गव सिगरेट सुलगाने लगा।

"खैर, अपना अनुभव सुनाओ।"

भार्गव लम्बा कश लेकर बोला—"विचार था, धार के पार मैदान में सात-आठ दिन से अधिक ठहरना आवश्यक न होगा। कूच-पड़ाव के लोगों ने सलाह दी—खच्चरों के लिए ऊपर घास-दाना ले जाना जरूरी नहीं है। वहाँ इस मौसम में पशुओं के लिए बहुत अच्छी पौष्टिक घास मिलेगी। जरूरी समझें तो थोड़ा बहुत दाना उनके लिए ले जाइए। विकट चढ़ाइयों पर बोझा ढोने से बचने का प्रलोभन भी रहता है।

"नये स्थान पर सूर्यास्त से जितना पूर्व पहुँचा जा सके, अच्छा रहता है। सूर्य का प्रकाश रहते स्थान को समझने और अनुकूल बना लेने में सुविधा रहती है। ग्रुप लीडर ने तड़के कुछ अँधेरा रहते नाश्ता दिलवा दिया। यंत्र, राशन और तम्बू छः खच्चरों पर लदवा दिये और

हम दस शेरपाओं को साथ ले, पौ फटते-फटते चल पड़े। खच्चरों के लिए दाना नौ-दस बजे तक मिलना था। शेरपाओं का मुखिया अपने शेष नौ आदमियों और छह खच्चरों के साथ पीछे रह गया कि दाना मिल जाने पर बड़ी बरमा मशीन और मशीनों के लिए ईंधन लेकर हमारे पीछे आ जाएगा।

"हमने धार का सकरा दर्रा साढ़े ग्यारह बजे पार कर लिया। मौसम फोरकास्ट ने उत्तर-पश्चिम में आकाश साफ रहने का आश्वासन दिया था। स्थानीय लोगों को भी दो-तीन सप्ताह तक बर्फ-पानी की आशंका नहीं थी, परन्तु हम दर्रे से मैदान में उतर ही पाये थे कि उत्तर-पश्चिम की ओर से घने, काले बादल उमड़ने लगे। बादलों ने इतना ही अवसर दिया कि हम मैदान के किनारे ऊँचा स्थान देख कर तम्बू लगा लें। यदि हम खूँटे गाड़ने और तम्बू खड़े करने में शेरपाओं का हाथ न बँटाते तो तम्बू भी न लग पाते। हमारे तम्बू लग ही पाये थे कि भयंकर कड़क से ओला बरसने लगा। ओले इतनी तेजी से और इतने परिमाण में गिरे कि दस मिनट में घनी, ऊँची घास से ढका मैदान चाँदी का विराट थाल सा बन गया। ओले धार की ढलवानों और ऊपर दर्रे में भी गिरे थे। हमें आशंका हुई, ओले यदि धार के उस ओर न गिरे होंगे तो भी पीछे आते शेरपाओं और खच्चरों के लिए दर्रा लाँघना और मैदान तक उतरना दुस्साध्य हो गया होगा। कुछ-कुछ देर रुक कर ओलों की उससे भी भारी-भारी बौछारें संध्या तक आती रहीं। समझ लिया, मेट शेष पार्टी को लेकर दर्रे तक आया भी होगा तो उसे लौट जाना पड़ा होगा।

"नीचे पड़ाव के लोगों की सूचना गलत नहीं थी। हमारे पहुँचने पर मैदान में बढ़िया घास मौजूद थी, परन्तु अब उसे ओलों की छह-सात इन्च मोटी तह ने दबा लिया था। हम चिन्तित थे—भूखे खच्चरों को क्या दें!

"सूर्यास्त के घण्टे भर बाद हम लोगों ने जमा हुआ पैराफीन जलाकर राशन गरम किया और खाकर सर्दी से बचने के लिए रजाई

के थैलों में हो गये। भूखे खच्चर अपने तम्बू में हिनहिना कर चारा माँग रहे थे। रात तम्बू पर बार-बार आहट से बरफ गिरने का अनुमान होता रहा। सुबह उठ कर देखा, रात में काफी बर्फ पड़ती रही थी। मैदान में बल्लम गाड़ने पर डेढ़ फुट तक बर्फ में धँस जाता था। मैदान के चारों ओर ढलवानों पर भी काफी बर्फ जम गयी थी। धार के दर्रे में भी काफी बर्फ भर गयी थी। खच्चर अपने तम्बू में और अधिक हिनहिना कर भूख और सर्दी की शिकायत कर रहे थे। उनके तम्बू में कुछ गरमी कर सकने के लिए तेल और स्टोव भी न थे। वह सुविधा तो हमारे लिए भी न थी। ईंधन बाद में आने वाला था। बारह हजार फुट ऊँचे धरातल पर ईंधन के लायक झाड़ियाँ या वृक्ष तो होते नहीं। आकाश में अब भी बर्फानी बादल अटे हुए थे। ऐसी स्थिति में क्या आशा होती कि शेरपाओं का मुखिया दाना और ईंधन लेकर आ जाएगा! दोपहर से पहले ही फिर बरफ गिरने लगी और कम-ज्यादा साँझ तक गिरती रही। हर समय काटने के लिए कुछ चट्टानों पर से बर्फ गिरा, उन्हें खुर्च कर देखते रहे परन्तु काम तो कुछ हो नहीं सकता था। केवल सर्दी ही अनुभव कर रहे थे। खच्चरों की दयनीय अवस्था, उनकी चारा माँगती कातर दृष्टि, अपना असामर्थ्य मन को और खिन्न कर रहा था।

"रात में और बरफ पड़ी। दूसरे दिन सुबह भी बार-बार बरफ गिरती रही। मैदान की अपेक्षा धार की ऊँचाई पर और दर्रे में अधिक बरफ गिर रही थी। दर्रा चौड़े भाले की नोक की तरह ऊपर से खुला और नीचे तंग था। स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि दर्रे के भीतर की ढलवानों से कच्ची बरफ के लोंदे फिसल-फिसल कर दर्रे को भरते जा रहे थे। तीसरे दिन रजाई के थैले से निकलने को मन न चाहता था। उस ऊँचाई पर विरल वायु में मामूली हरकत से भी साँस फूलने लगती है! शरीर की शक्ति सँजोये रखने का ध्यान रखना होता है।

"तीसरी रात भी बरफ पड़ी और सुबह भी बादल बने रहे। सर्दी का क्या कहना! थर्मा मीटर शून्य से पैंतालीस अंश नीचे था। पूरे

कपड़े पहने, रजाई के थैलों में लिपट, कुछ पढ़ कर समय बिताने का यत्न किया, परन्तु नाक बहते जा रहे थे। सर्दी से कनपटियों में दर्द जान पड़ रहा था। आशंका हो गयी कि नीचे से सहायता आने की बात तो दूर, लौट जाने की राह भी कम से कम चार-पाँच दिन तक नहीं मिलेगी। खच्चरों की हिनहिनाहट सुनाई नहीं पड़ रही थी। उनकी गर्दनें लटक गयी थीं। अधिक सर्दी में शारीरिक शक्ति के लिए अधिक खुराक और कैलोरीज की आवश्यकता होती है और खच्चर बेचारे, कड़े परिश्रम के बाद से बिलकुल निराहार थे। उस समय खच्चरों के तम्बू से विचित्र समाचार मिला कि एक खच्चर भूख से व्याकुल होकर दूसरे खच्चरों को काटने के लिए झपट रहा था और उसने अपने समीप के खच्चर का कान तोड़ कर खा लिया था।"

"विचित्र!" पूरण ने टोका, "घोड़े-खच्चरों के मांसाहार की बात तो कभी नहीं सुनी!"

"कह तो रहा हूँ विचित्र समाचार मिला!" भार्गव अवसर पाकर नया सिगरेट सुलगाने लगा।

पूरण हँस दिया—"अरे आप लोग अपने राशन में से ही बेचारे खच्चरों को कुछ दे देते!"

"यानी, हमारी अपेक्षा खच्चरों की जान बहुमूल्य थी और हम सब के आठ दिन के राशन से एक खच्चर का पेट एक बार भी न भरता!"

"मैंने केवल हँसी में कहा।"

"हाँ, पाँचवीं रात बरफ नहीं पड़ी, परन्तु अगले दिन भी घने बादल रहने के कारण बरफ गिरने की सम्भावना बनी थी। नाश्ते के समय हम लोग विचार कर रहे थे कि ऐसी परिस्थिति में प्राण-रक्षा के लिए क्या किया जा सकता है। खच्चरों के तम्बू के एक शेरपा ने आकर परेशानी प्रकट की—कनकटा खच्चर लड़खड़ा कर गिर पड़ा है। खच्चर अभी जिन्दा है और उसका कान खा जाने वाला खच्चर उसे खाने के लिए लपक रहा है। उसे रोकते हैं तो वह हमें काटता है।

"हम लोग विस्मय से देखने के लिए गये। शेरपा की बात ठीक थी। मांसाहारी बन जाने वाला खच्चर गिर जाने वाले खच्चर को खाने का यत्न कर रहा था। सोचा, जो खच्चर गिर पड़ा है उसे तो बचाया नहीं जा सकता, यदि दूसरा उससे अपना पेट भर सकता है तो भर ले।

"ग्रुप लीडर ने खच्चर के मांसाहारी बन जाने के प्रसंग पर विद्रूप करके कहा—'कहीं हम लोगों की भी ऐसी ही अवस्था न हो जाये!'

"साधारण नियम से हम लोगों के पास आवश्यकता से दूना राशन रहता है। हमारा राशन स्टाक सोलह दिन चल सकता था। ग्रुप लीडर ने आदेश दिया कि राशन इस तरह खर्च किया जाये कि कम से कम चार दिन और चल सके। पैराफीन भी कम जलाया जाये, साँझ की चाय बन्द कर दी जाये। इस ख्याल से कि हमें कम खाने का ध्यान रखना है, सर्दी और निर्बलता अधिक अनुभव होने लगी।

"छठे दिन धूप निकल आयी, परन्तु दर्रा बरफ भर जाने के कारण अलंघ्य हो चुका था। एक दिन बाद एक और खच्चर भूख से लड़खड़ा कर गिर पड़ा। मांसाहारी बन जाने वाला खच्चर तब तक पहले खच्चर को समाप्त कर चुका था। वह मांसाहारी पशुओं—शेर-चीतों की तरह खच्चर के शरीर के पंजर को तोड़ नहीं सका था, ऊपर से जितना मांस खा सकता था, खा गया था। उसके लिए और आहार हो गया। आठवें दिन से शेष खच्चर गिरने लगे। मांसाहार अपना लेने वाला खच्चर उनसे निर्वाह करता रहा। खच्चरों के शरीर भूख से सूख गये थे, उनमें मांस ही कितना था!

"छह दिन अच्छी धूप लग जाने से ढालों पर जगह-जगह बरफ पिघल गयी थी, परन्तु दर्रा अलंघ्य ही था और मैदान पर भी बरफ की चार इंच गहरी तह मौजूद थी। दर्रे के दाहिने कुछ अन्तर पर स्थान शेष धार से नीचा था। हम लोग दूरबीनें लेकर उस स्थान के विषय में विचार कर रहे थे, इस बरफ की थाली में भूख से जम जाने की अपेक्षा मुक्ति के प्रयत्न में मरना ही बेहतर होगा।

"गत संध्या ओले का बादल फिर दिखाई दिया था। गनीमत कि तेज हवा ने उसे उड़ा दिया, परन्तु ऐसा बादल किसी समय भी बरस सकता था। मौसम के विचार से ऐसी आशंका प्रतिदिन बढ़ रही थी। उससे पहले एक वर्ष पूर्व हम सत्रह हजार फुट की ऊँचाई तक चढ़ चुके थे। धार चौदह हजार फुट ही थी, वह दुर्लंघ्य हो गयी थी। बरफ ताजी और कच्ची होने से स्थानों पर खच्चर या दूसरा पशु नहीं चढ़ सकता। वहाँ गति सम्भव है तो केवल मनुष्य की, क्योंकि मनुष्य केवल शारीरिक शक्ति से काम नहीं लेता, उसकी सामर्थ्य सोच सकने में भी होती है।

"हम लोगों ने ग्रुप लीडर के सामने प्रस्ताव रखा—सम्भव है कूच पड़ाव में लोगों ने हमें समाप्त मान कर हमारी खोज व्यर्थ समझ ली हो। यहाँ खच्चरों की तरह भूखे मर जाने से बेहतर है कि हम लोगों में से दो आदमी दर्रे के समीप नीचे स्थान से धार लाँघने का यत्न करें और उस ओर समाचार दें। वह स्थान सवा मील से दूर न होगा। यदि हम लोग तीन घंटे में धार के उस पार न हो सके तो लौट आएँगे।

"ग्रुप लीडर ने प्रस्ताव स्वीकार न किया। वह इतने यत्न से सधाये हुए और विशेषज्ञ लोगों को यथासम्भव जोखिम में डालने के लिए तैयार न था। उसने हमें सुझाव दिया कि इस काम के लिए शेरपा लोगों को, मुँह माँगे इनाम का आश्वासन देकर उत्साहित किया जाये। शेरपा हमें साथ लिए बिना चलने को तैयार न थे।

"ग्यारहवें दिन नया संकट खड़ा हो गया। मांसाहारी खच्चर मुर्दा खच्चरों को समाप्त कर चुका था। घास पर अब भी इंच-डेढ़ इंच कड़ी बरफ की तह थी। मांसाहारी बन गया खच्चर अब भूख से व्याकुल होकर आदमियों पर झपट रहा था। शेरपाओं ने कहा कि उसे गोली मार दी जाये वर्ना वह आदमियों को गिरा कर खा जाएगा।

"ग्रुप लीडर ने खच्चर को गोली मारने की अनुमति न दे, आदेश दिया—'इसके चारों सुमों में बन्धन डाल दिये जाएँ। यह लगातार खाता रहा है। अभी तीन-चार दिन मरेगा नहीं। धूप रही तो इसे दो

दिन बाद घास मिल जाएगी।' उसने हमें अपना अभिप्राय बताया—'पीछे पड़ाव पर बड़ा मेट बहुत भरोसे लायक आदमी है। सम्भव है, उसे खयाल हो कि हमारे पास अभी चार दिन का राशन है, इसलिए अपने आदमियों को कच्ची बरफ में धँसाने का जोखिम टाल रहा हो। चार दिन की धूप बहुत सहायक हो सकती है! वह उस दिन दोपहर बाद तक न आया तो हम आगामी प्रातः भगवान भरोसे धार को लाँघने का यत्न करेंगे ही, परन्तु हो सकता है कि इस बीच फिर मौसम धोखा दे जाये, हमें दो-तीन या चार दिन यहाँ रुकना पड़ जाये। उस समय यह खच्चर हमारा भोजन बनेगा। इसका माँस पकाने के लिए काफी ईंधन की जरूरत होगी। उसके लिए पैराफीन बचाओ, डिब्बों में बन्द राशन गरम करने की जरूरत नहीं, केवल नाश्ते के समय एक-एक प्याला काफी बनाया जाये।'

"धूप दो दिन खूब अच्छी पड़ी। मैदान में जगह-जगह घास प्रकट हो गयी। खच्चर को घास की ओर छोड़ दिया गया। वह लपक-लपक कर घास खा रहा था और हम टीनों में जमा राशन निगल-निगल कर झुरझुरी अनुभव कर रहे थे। प्रत्येक दिन पहाड़ हो रहा था। मन चाहता था, धार को लाँघने के प्रयत्न में ही प्राण चले जाएँ और ऐसी यातना समाप्त हो।

"सोलहवें दिन हम लोगों ने ग्यारह बजे से ही धार की ओर दूरबीनें लगा लीं। दर्रा अब भी अलंघ्य था। हम लोग उसके समीप धार पर नीचे स्थान की ओर ही देख रहे थे। तीन भी बज गये तो ग्रुप लीडर ने निराशा से कह दिया—'उन लोगों ने अनुमान कर लिया है कि हम बरफ में दब चुके हैं।' वह कुछ मिनट दूरबीन से धार की ओर देखता रहा और फिर बोला, 'लेकिन मेरा अनुरोध है कि दो दिन और ठहरा जाये। उन लोगों की प्रतीक्षा में नहीं, केवल इसलिए कि दो दिन की धूप से...?' उसने धार पर एक स्थान की ओर संकेत किया, 'वहाँ से जाने में जोखिम कम हो जाएगी।'

"हमारे लिए उस सर्दी और यातना में दो और दिन बिताने की

कल्पना असह्य थी। दो साथी उतावले हो गये—'हम यहाँ खायेंगे क्या? दो दिन भूखे रह कर उस धार पर चढ़ सकने का सामर्थ्य रहेगा?'

'इसी समय के लिए तो वह खच्चर है।' ग्रुप लीडर ने उत्तर दिया, 'अब उसका क्षण आ गया है। चलो उसे समाप्त कर दें ताकि प्रकाश रहते उसे उधेड़ा जा सके।' वह रिवाल्वर लेने के लिए तम्बू के भीतर गया और हमें धार की रीढ़ पर, दर्रे के पास दो शेरपा दिखाई दे गये।

पूरण किलक उठा—"हाट लक! खच्चर बच गया!"

"लक क्या?" भार्गव ने पूछा, "शेष खच्चरों को क्या हमने गोली मार दी थी? उस खच्चर ने स्थिति के लिए प्रयत्न किया, बच गया।"

"परन्तु खच्चर मांसाहारी नहीं होते।" पूरण ने आग्रह किया, "यह बात अप्राकृतिक थी।"

"अप्राकृतिक?" भार्गव के माथे पर तेवर आ गये, "क्या सृष्टि के आरम्भ से जीवों के रूप और व्यवहार सदा एक से ही रहे हैं? जीव अस्तित्व-रक्षा के लिए शाकाहारी से मांसाहारी और मांसाहारी से शाकाहारी बनते रहे हैं। इतना ही नहीं, वे जलचर से थलचर और नभचर तक बन गये। जो जीव स्थिति-अनुकूल व्यवहार नहीं अपना सके उनका अस्तित्व मिट गया। उनके प्रस्तर पंजर संग्रहालयों में मिलेंगे। जीवों का अस्तित्व-रक्षा के प्रयोजन से स्थिति अनुकूल आचरण भी प्राकृतिक है।"

"तब भी बात विचित्र जरूर है।"

"विचित्र बात सुनना चाहते हो! वह भी सुनाता हूँ।" भार्गव नया सिगरेट सुलगा कर सुनाने लगा!

"वह मेरे ट्रेनिंग पीरियड की बात है। हम लोग कंचन की धारों में थे। उस समय भी हमारा कैम्प दस हजार फुट पर ही था। हमारा ट्रेनर एक जर्मन था। हम लोग प्रातः माउंटेनियरिंग के लिए कैम्प से साढ़े तीन हजार फुट और ऊपर गये थे। लौटते समय भारी वर्षा होने लगी। उस वर्षा में बल्लमों और कुदालों की सहायता से दो-दो,

चार-चार इंच करके उतरना पड़ा। सूर्यास्त के बाद ही कैम्प में पहुँच सके। वर्षा ऐसी थी कि मोटे ऊनी वाटर प्रूफ कपड़े होने पर भी त्वचा के साथ पानी भर जाता था। पेटी खींचने पर पानी पतलून में बह जाता था। सर्दी ऐसी कि जबड़े ऐंठ जाने से मुँह से बोल न निकले। उँगलियाँ नीली पड़ कर ऐंठ गयी थीं। जूतों के फीते काट कर उन्हें उतार सके।

"कैम्प में लौटने पर ट्रेनर ने आर्डर किया—सब लोग पूरे कपड़े उतार कर परों की रजाइयों के थैलों में घुस कर चार-चार घूँट ब्रांडी निगल लें और शरीर को हाथों से जितना रगड़ा जा सके, मल लें।

"हमारे ग्रुप में दक्षिण के एक कर्मकांडनिष्ठ परम वैष्णव ब्राह्मण भी थे। दूसरों के सामने निर्वस्त्र हो जाना उन्हें स्वीकार न था। वे भीगी बनियान, कमीज और पतलून पहने ही रजाई के थैले में घुसे। परम वैष्णव व्यक्ति थे, ब्रांडी कैसे पी लेते। ब्रांडी भी उन्होंने नहीं पी। जाड़े के मारे चेहरा भी थैले में कर लिया। दूसरे दिन सबके उठ जाने पर वे नहीं उठे। पुकारने पर भी उनकी नींद नहीं टूटी तो काफी का प्याला देने के लिए थैले का मुँह खोल कर देखा गया, उनका मुँह खुला था।

"वैष्णव विष्णुलोक सिधार गये?"

"सीधे।" भार्गव ने सिगरेट से लम्बा कश खींच लिया।

"खैर!" पूरण ने विद्रूप से सराहना की, "अपना धर्म विश्वास तो नहीं छोड़ा।"

भार्गव का, ओठों की ओर सिगरेट ले जाता हाथ रुक गया—"धर्म विश्वास क्या, संस्कार कहो! देख लो, खच्चर ने स्थिति समझ कर आत्म-रक्षा कर ली और संस्कारों से बँधा मनुष्य स्थिति अनुकूल आचरण नहीं कर सका।"

तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ?

"अच्छा हमारा एक फोटो बना दीजिए।" माया ने सकुचाते हुए कह डाला।

निगम को बहुत अच्छा लगा—"वाह, जरूर।" उसने आश्वासन दिया।

माया से इतनी बात कहला सकने में निगम का लगभग डेढ़ मास का समय और प्रयत्न लगा था। इस प्रयत्न का इतिहास बहुत रोचक न होने पर भी उसका महत्त्व है।

निगम और माया दोनों ही क्षय रोग की ऐसी आरम्भिक अवस्था में थे, जब सावधानी, उपचार और पथ्य से रोग का इलाज निश्चित रूप से हो सकता था।

रोग हो जाने की आशंका का कारण दोनों के लिए अलग-अलग था। माया को उसके पति ने दमे से पीड़ित, आयु से थके हुए किसी भी काम के लिए अयोग्य, सम्बन्ध में अपने बड़े भाई की संरक्षता में इलाज के लिए भेजा था। इलाज के लिए दोनों एक ही जगह, भुवाली में थे। एक ही बंगले का आधा-आधा भाग लेकर रह रहे थे। इलाज

एक ही डॉक्टर का और लगभग एक ही जैसा था।

क्षय का रोग जितना भयंकर है, इलाज उसका उतना ही सीधा और सरल है। पूर्ण विश्राम, अच्छा भोजन और प्रसन्न रहना। डॉक्टर साहब अपने रोगियों को स्पष्ट शब्दों में कहते रहते थे—"डॉक्टर जादू से आपका इलाज नहीं कर सकता। इलाज आपके हाथ में है। डॉक्टर केवल सुझाव देकर दवा बता कर सहायता कर सकता है।"

इसी स्पष्टवादिता के सिलसिले में डॉक्टर साहब माया को सहानुभूति भरी डाँट भी सुनाते रहते थे। डॉक्टर हर सातवें दिन अपने मरीज को तौल कर उनका वजन घटने-बढ़ने से उनके स्वास्थ्य में सुधार का अनुमान करते रहते थे। माया के वजन में कभी तोला भर भी बढ़ती न पाकर और अपने नुस्खे असफल होते देख कर वे परेशानी में माया के जेठ से पूछते—"क्या बात है? ...यह क्या खाती है? ...कितना खाती है? ...कभी घूमने जाती है या नहीं? ...कभी हँसती-बोलती है? वगैरह-वगैरह।

माया के जेठ मुन्शी जी दमे और वृद्धावस्था की दुर्बलता के कारण रेंगते से स्वर में सब बातों के लिए असन्तोषजनक उत्तर देकर अपने समझाने का कुछ असर न होने की शिकायत कर देते।

डॉक्टर जिम्मेदारी के अधिकार से रोगी को डाँटते—"क्या गुम-सुम बनी बैठी रहती हैं आप? इलाज नहीं कराना है तो आगरा लौट जाइए!...हमारी बदनामी कराने से आपका क्या फायदा? इन्हें देखिए!" डॉक्टर साहब निगम की ओर संकेत करते, "पन्द्रह दिन में तीन पौण्ड वजन बढ़ गया। आप डेढ़ महीने से यों ही पड़ी हैं। ...अभी कुछ बिगड़ा नहीं है लेकिन आपका यही ढंग रहा तो रोग बढ़ जाएगा...।"

लौटते समय डॉक्टर साहब माया के जेठ, उसके पड़ोसी निगम और निगम की माँ 'चाची' सबसे अपील कर जाते—आप लोग इन्हें समझाइए...कुछ खिलाइए-पिलाइए और हँसाइए!"

निगम साधारणतः स्वस्थ परिश्रमी और महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति है। वह चित्रकार है। पिछले वर्ष दिसम्बर में वह अमरीका में होने वाली

एक प्रदर्शनी में भेजने के लिए कुछ चित्र बना रहा था। उसे इनफ्लूएंजा हो गया। बीमारी में विश्राम न करने के कारण उसका बुखार टिक गया। डॉक्टरों के परामर्श से इलाज में जलवायु की सहायता लेने के लिए वह भुवाली चला गया। उसे तुरन्त ही लाभ हुआ। स्वस्थ हो जाने पर वह 'जरा और मृत्यु पर जीवन की विजय' का एक चित्र बनाना चाहता था। इसी भावना को वह अपने चारों ओर अनुभव कर रहा था। स्वास्थ्य और जीवन के प्रति माया के निरुत्साह से उसके मन में दर्द-सा होता था।

माया के गुम-सुम और चुप रहने पर भी निगम को 'चाची' से यह मालूम हो गया था कि माया आगरे के एक समृद्ध कायस्थ वकील की तीसरी पत्नी है। चौबीस-पच्चीस वर्ष की आयु में भी उसकी गोद सूनी रहने पर भी वह कानूनन वकील साहब के पाँच बच्चों की माँ है। माया के विवाह से पहिले वकील साहब की पहली पत्नी दो लड़कियाँ, एक लड़का और दूसरी पत्नी दो लड़कियाँ छोड़ कर एक दूसरी के बाद क्षय रोग से चल बसी थीं। जब वकील साहब की आयु प्रायः छियालीस वर्ष की थी, उन्होंने गृहस्थी सम्भालने और अपना अकेलापन दूर करने के लिए माया को पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया था। माया के बीस वर्ष की हो जाने तक भी उसके पिता को लड़की के लिए कोई अच्छा वर न मिला था। शायद वे वकील साहब की दूसरी पत्नी की मृत्यु की ही प्रतीक्षा कर रहे थे।

माया अपने जीवन का क्या भविष्य समझ बैठी है, यह अनुमान कर लेना निगम के लिए कठिन न था। उसका मन सहानुभूति से माया की ओर झुक गया। एक भरे यौवन का यों बरबाद हो जाना उसे अन्याय जान पड़ रहा था।

माया के लिए 'भरे यौवन' शब्द का प्रयोग केवल सहानुभूति से ही किया जा सकता था। आयु चौबीस-पच्चीस की ही थी। शरीर भी छरहरा और ढाँचा सुडौल था। सलोने चेहरे पर चमक भी था, परन्तु आँसुओं की नमी से सील कर बहा जा रहा था। आँखों के नीचे और

गालों में गढ़े पड़े हुए थे, जैसे किसी अच्छे-खासे बने चित्र पर मैला पानी पड़ जाने से रंग बिगड़ जाये और केवल बाह्याकृति ही बची रहे।

निगम ने जिस नेकनीयती और मन की सफाई से माया की ओर आत्मीयता का आक्रमण किया था, उसकी उपेक्षा और विरोध दोनों ही सम्भव न थे। हाथ में ताश की गड्डी फरफराते हुए वह चाची से घर और चौके का काम छुड़वा कर उन्हें जबर्दस्ती बरामदे में बुला लेता और फिर माया के जेठ को ललकारता 'आइए मुन्शी जी, दो-दो हाथ हो जाएँ।' इसके साथ ही माया से भी खेल में शामिल होने का अनुरोध करता। बिरादरी के नाते वह माया को निधड़क 'सक्सेना भाभी' कह कर सम्बोधन करता।

उस महफिल में त्रुप का ही खेल चलता। निगम बड़े जोश से 'वह मारा पापड़वाले को!' चिल्ला कर गलत पत्ता चल देता और फिर अपनी भूल पर विस्मय में सिर खुजाते हुए 'अरे!' पुकार कर सबको हँसा देता।

माया के रक्तहीन ओंठ मुस्कराये बिना न रह सकते।

निगम चुनौती देता—"आप हँसती हैं? अच्छा अबकी लीजिए!"

पाँच-सात मिनट में फिर कोई जबरदस्त दाँव दिखाई पड़ जाता। पुकार उठता—"यह देखिए खरा खेल फरक्कावादी" और फिर वैसी ही भूल हो जाती।

ताश के खेल के अतिरिक्त निगम की आपबीती, हँसोड़ कहानियों का अक्षय भंडार भी माया को विस्मय से सुनने के लिए विवश कर देता था। माया की उदासी कुछ पल के लिए दूर हो जाती। वह कभी माया को कोई कहानी की पुस्तक, पत्रिका या चुने हुए चित्रों का अलबम ही दिल बहलाने के लिए दे देता। निगम ने इन चित्रों को अपने व्यवसाय में उपयोग के लिए चुना था। उनमें अनेक देशी-विदेशी अर्धनग्न या नग्न चित्र भी थे। इनका उपयोग निगम अपने चित्रों में अंगों के अनुपात ठीक बना सकने के लिए करता था। माया को अलबम देते समय शिष्टाचार के विचार से ऐसे चित्र निकाल लेता था।

निगम की सहृदयता के प्रभाव से माया की चुप्पी कुछ-कुछ हिलने लगी थी, पर वैसे ही जैसे बहुत दिन से उपयोग में न आने वाले तालाब पर जमी मोटी काई कभी वायु के झोंके से फट तो जाती है, परन्तु तुरन्त ही मिल भी जाती है। माया पुस्तकों या पत्रिकाओं को कितना पढ़ती और समझती थी, इस विषय की कभी कोई चर्चा न होती थी। हाँ, जब निगम बँगले के आँगन से दिखाई देने वाले दृश्यों के, माया के सामने खींचे हुए फोटो माया को दिखाता, तो स्तुति की मुस्कराहट जरूर माया के ओठों पर आ जाती और वह दो चार शब्दों में फोटो की प्रशंसा भी कर देती।

माया को उत्साहित करने के लिए निगम कह देता—"आप भी सीख लीजिए न फोटो बनाना।...बड़ा आसान है। कुछ करना थोड़े ही होता है। बस अच्छे दृश्य के सामने कैमरा खोल देना और बन्द कर देना, तसवीर तो आपसे आप बन जाती है।"

"क्या करूँगी?...मुझे क्या करना है।" माया टाल देती। निगम उसे जीवन के प्रति उदास न होने की नसीहत देने लगता। उस बात से जान बचाने के लिए वह कोई दूसरी बात करने लगती, "यह मेरा नौकर बाजार जाता है तो वहीं सो रहता है। देखूँ शायद आ गया हो।"

ऐसे ही एक दिन निगम माया को नये बनाये फोटो दिखा रहा था और समझा रहा था—"आदमी कुछ करता रहता है तो उदासी नहीं घेरती।"

माया कह बैठी—"अच्छा हमारा एक फोटो बना दीजिए।"

"जरूर!" निगम ने उत्साह से उत्तर दिया, "जब कहिए!"

"अरे जब हो; चाहे अभी बना दीजिए।"

अवसर की बात, उस समय निगम के पास फिल्म समाप्त हो चुकी थी। फिल्म समाप्त हो जाने का कारण बताकर उसने विश्वास दिलाया कि किसी दिन वह खुद या उसका नौकर करमसिंह नैनीताल जाएगा तो फिल्म आ जाएगी, वह सबसे पहले माया का फोटो बना देगा।

माया का फोटा बना देने की बात होने के चौथे या पाँचवें दिन करमसिंह कुछ सामान लेने नैनीताल गया था। लगभग दिन डूबने के समय लौटकर करमसिंह सामान और बचे हुए पैसे निगम को सहेज रहा था। माया ने आकर पूछ लिया—"भाई साहब, फिल्म मँगवा लिया है।"

"हाँ हाँ, क्यों नहीं!" फिल्म की बाबत भूल जाने की बात निगम स्वीकार न कर सका, "क्यों, क्या फोटो अभी खिंचवाइएगा?" उसने उत्साह प्रकट किया।

"अभी बना दीजिए।" माया को भी एतराज न था।

"मुंशी जी को बुला लें?" निगम ने सोचकर कहा।

"वे तो बाजार गये हैं देर में लौटेंगे!"

"आप भी तो कपड़े बदलेंगी, तब तक रोशनी कम हो जाएगी।" निगम ने दूसरा बहाना सोचा।

"कपड़ों से क्या है?" उपेक्षा से माया ने उत्तर दिया, "कपड़े बदल कर क्या करना है? ठीक तो है?"

कोई और बहाना सोचते हुए निगम कैमरे में फिल्म लगा लाने के लिए भीतर चला गया। फोटो के सामान की आलमारी के सामने खड़ा वह सोच रहा था, माया का मन रखने के लिए बोले हुए झूठ को कैसे निबाहे! उसकी उँगलियाँ उन चित्रों को पलट रही थीं जिन्हें उसने एलबम माया को देने से पहले निकाल लिया था। मन में एक बात कौंधकर उसके होठों पर मुस्कान आ गयी। कैमरे में फिल्म की जगह पर समा सकने लायक एक फोटो उसने चुन लिया।

दो मिनट के बाद निगम कैमरे को तैयार हालत में लिये बाहर आया—"लीजिए कैमरा तो तैयार है।" उसने माया को सम्बोधन किया।

"अच्छा।" माया भी तैयार थी।

"साड़ी नहीं बदली आपने?" निगम ने पूछा।

"ठीक है। क्या जरूरत है?"

"आप कहती हैं न, साड़ी की तसवीर थोड़े ही बनवानी है।" निगम मुस्कराया।

"हाँ, साड़ी से क्या होगा? जैसी हूँ वैसी ही रहूँगी।"

"आपके बैठने के लिए कुर्सी लाऊँ?"

"न, ऐसे ही ठीक है।"

"जैसे मैं कहूँ बैठ जाइए।"

"अच्छा।"

"बरामदे में सामने से रोशनी आ रही है। यहाँ फर्श पर बैठ जाइए। दायीं बाँह की टेक ले लीजिए।...बायीं बाँह को सामने ऐसे रहने दीजिए।...गर्दन जरा ऊँची कीजिए...हाँ, सिर उधर कर लीजिए जैसे उस पेड़ की चोटी पर देख रही हों...हाँ।"

माया निगम के निर्देशानुसार बैठ गयी।

निगम ने चेतावनी दी—"अब आधा मिनट बिलकुल हिलिएगा नहीं।" वह स्वयं दो गज परे फर्श पर उकड़ूँ बैठकर कैमरे को माया की ओर साध रहा था। कैमरे की आँख खुलने का और बन्द होने का 'टिक' शब्द हुआ।

"थैंक्यू, बस हो गया।" निगम ने हँसकर कहा।

"जाने कैसी बनेगी?" माया फर्श से उठती हुई बोली।

"अभी मालूम हो जाएगा।" निगम ने तटस्थता से उत्तर दिया।

"अभी कैसे? माया ने विस्मय प्रकट किया, "एक-दो दिन तो लगते हैं बनाने में।"

"हाँ ऐसे कैमरे और फिल्म भी होते हैं।" निगम ने स्वीकार किया और बताया, "यह दूसरी तरह का कैमरा है।"

"यह कैसा है?" माया का विस्मय बढ़ा।

"इस कैमरे से फोटो पाँच मिनट में आप ही तैयार हो जाती है।" निगम ने समझाया और अपनी कलाई पर घड़ी की ओर देखकर बोला, "अभी दो मिनट ही हुए हैं।"

शेष तीन मिनट माया उत्सुकता से प्रतीक्षा करती रही। दो

मिनट और गुजर जाने पर निगम ने ठिठक कर कहा..."आधा मिनट और ठहर जाना अच्छा है। जल्दी करने से कभी-कभी फोटो को हवा लग जाती है।" माया उत्सुकता से अपलक कैमरे की ओर देखती रही।

निगम कैमरे को ऐसी बेबाकी से माया की आँखों के सामने खोलने लगा कि सन्देह का कोई अवसर न रहे। जैसे जादूगर दर्शकों के सामने झाड़कर दिखा देने के बाद लपेट लिए रूमाल में से अद्‌भुत वस्तु निकालते समय आहिस्ते आहिस्ते, दिखा-दिखा कर तह खोलता है। कैमरे का पिछला हिस्सा खुला। फोटो की सफेद पीठ दिखाई दी। निगम ने फोटो को स्वयं देखे बिना माया की ओर बढ़ा दिया।

माया का हाथ उत्सुकता से फोटो की ओर बढ़ गया था; परन्तु फोटो आँखों के सामने आते ही उसके हाथ से गिर गयी, आँखें झपक गयीं और शरीर में थोड़ा बहुत जो भी रक्त था, पीले चेहरे पर खिंच आया।

"क्यों?" भोले स्वर में निगम ने विस्मय प्रकट किया।

"यह हमारा फोटो है?" माया आँखें न उठा सकी, परन्तु होंठों पर आयी मुसकान भी छिपी न रही।

निगम ने आरोप का विरोध किया—"आपके सामने ही तो फोटो लेकर कैमरा खोला है।"

"इसमें हमारे कपड़े कहाँ हैं?" तनिक आँख उठाकर माया ने साहस किया। फोटो में माया की तरह छरहरे शरीर परन्तु बहुत सुन्दर अनुपात के अवयव की निरावरण युवती; दायीं बाँह का सहारा लिए एक चट्टान पर बैठी, कहीं दूर देख रही थी।

"आपने ही तो कहा था।" निगम ने सफाई दी, "कि कपड़ों की फोटो थोड़े ही खिचवानी है।"

"ऐसा कहीं होता है?" माया ने झेंप से अविश्वास प्रकट किया और उसका चेहरा गम्भीर हो गया।

"ओहो!" निगम ने परेशानी प्रकट की, "आपने क्या एक्सरे नहीं देखा कभी! ऐसा भी कैमरा होता है जिसमें शरीर के भीतर की

हड्डी और नसें आ जाती हैं।" अपना कैमरा दिखाकर वह कहता गया, "इस कैमरे से कपड़ों के भीतर से शरीर की फोटो आ जाती है। आप यदि पूरे कपड़ों समेत चाहती हैं तो दूसरे कैमरे से वैसी ही फोटो खींच दूँगा।"

माया ने एक बार फिर फोटो को देखने का प्रयत्न किया, परन्तु देख न सकी। उसका चेहरा गम्भीर हो गया। वह उठकर अपने कमरे में चली गयी।

निगम भी कैमरा और चित्र सम्भाल कर अपने कमरे में चला आया। कुछ देर बाद वह चिन्ता में सिर झुकाये पछताने लगा, यह क्या कर बैठा? माया हँसने की अपेक्षा चिढ़ गयी।...नाराज हो गयी। कहीं चाची से शिकायत न कर दे।...शिकायत कर सकती है या नहीं? रात में नींद आ जाने तक यही विचार निगम को विक्षिप्त किये रहा और इस परेशानी के कारण नींद भी जरा देर से आयी।

अगले दिन निगम का पश्चात्ताप और चिन्ता बढ़ गयी। माया की नाराजगी अब साफ ही थी। प्रातः सूर्योदय के समय माया कुछ क्षण के लिए धूप में आती थी और निगम से नमस्कार कुशल-क्षेम हो जाती थी। उस दिन माया दिखायी नहीं दी। निगम क्या करता? तीर कमान से निकल चुका था। वह केवल अपने को ही समझा सकता था कि उसकी नीयत खराब न थी। उसने केवल हँसी की थी। हँसी दूर तक चली गयी।

पश्चाताप के कारण निगम स्वयं भी चुप हो गया। उसकी चुप्पी चाची से छिपी न रही। उन्होंने पूछा—"जी तो अच्छा है!"

निगम ने एक किताब में ध्यान लग जाने का बहाना कर चाची को टाल दिया, परन्तु उदासी न मिटा सका। वह किताब पढ़ने का बहाना किये दस बजे तक अपने कमरे में लेटा रहा।

कमरे के बाहर से आवाज आयी—"सुनिए।"

आवाज पहचान कर निगम तड़प उठा—"आइए!"

माया दरवाजे में आ गयी। कलफ की हुई खूब महीन धोती में

से पीठ पर फैले गीले केश झलक रहे थे। लज्जा से आँखों की मुस्कान छिपाते हुए बोली—"भाई साहब, हमारा फोटो दे दीजिए।"

निगम के मन से पश्चात्ताप और दुश्चिन्ता ऐसे उड़ गयी जैसे फूँक मारने से आईने पर पड़ी धूल साफ हो जाती है।

"कल वाला?" जैसे याद करने की चेष्टा करते हुए उसने पूछा।

"हाँ।" माया ने हामी भरी।

"वह तो हमने अपने पास रखने के लिए बनाया है।" निगम ने गम्भीरता से विचार प्रकट किया।

"वाह तस्वीर तो हमारी है?" माया ने अधिकार प्रकट किया।

"आपकी है? कल आप कह रही थीं कि तस्वीर आपकी नहीं है।"

"दीजिए! आपने ही तो खींची है।" माया ने आग्रह किया। उसकी आँखों में चमक थी और स्वर में कुछ मचल।

"अच्छा ले लीजिए!" निगम ने पराजय स्वीकार कर ली और तस्वीर मेज पर से उठा कर माया की ओर बढ़ा दी। माया ने दो-तीन सेकेण्ड तक तस्वीर को तिरछी निगाहों से देखा और फिर लजाकर विरोध किया—"हमारी नहीं है तस्वीर?"

"अभी आप मान रही थीं," निगम ने उलझन प्रकट की, "क्यों?"

"यह तो बहुत अच्छी है। हम ऐसी कहाँ हैं?" माया की आँखें झुक गयीं और चेहरे पर लाली बढ़ गयी।

माया के नये धुले केशों से सुगन्धित साबुन से सद्यःस्नान की सुबास आ रही थी। अपने रक्त में झनझनाहट अनुभव करके भी निगम ने कह दिया—हैं तो!...नहीं तो तस्वीर कैसे सुन्दर होती?"

"सच कहते हैं?" माया ने निगम की आँखों में सच्चाई भाँपने के लिए देखा।

"हाँ, बिलकुल सच।" निगम को माया की लज्जा और पुलक से अद्भुत रस मिल रहा था।

माया फिर फोटो की ओर देखती रही—"इसे फाड़ दीजिए!"

आँखें चुराये उसने कहा।

"मैं तो इसे सम्भाल कर रखूँगा?" निगम ने उत्तर दिया, "लखनऊ जाने पर याद आने पर इसे देखूँगा।"

माया ने निगम की आँखों में देखना चाहा, पर देख न सकी। फोटो उसने ले लिया—"आपको फिर दे दूँगी।" फोटो को हाथ में और हाथ को धोती में छिपाये वह अपने कमरे में चली गयी।

माया के चले जाने पर निगम फिर लेट गया और सोचने लगा—पाँच-सात मिनट में बात कहाँ से कहाँ पहुँच गयी—जीवन का बिलकुल दूसरा दृश्य उसकी आँखों के सामने आ गया।

अब तक निगम और माया में जो बात होती, सभी के सामने और खूब ऊँचे स्वर में होती थी, परन्तु अब अकेले में करने लायक बात भी हो गयी। असाधारण और विशेष में ही तो सुख होता है। जिसे पाने में कठिनाई हो, वही पाने की इच्छा होती है। अकेले में और दूसरों के कान की पहुँच से परे होने पर निगम कह बैठता—"वह तस्वीर आपने लौटायी नहीं?"

"हमारी तस्वीर है, हम क्यों दें? पर अच्छी थोड़े ही है!" माया होंठ बिचका देती।

"हमें तो अच्छी लगती है!"

"आप तो यों ही कहते हैं!"

"अच्छा, किसी और को दिखाकर पूछ लो।"

"धत्त!"

"क्यों?"

"शरम नहीं आती, ऐसी तस्वीर? बड़े वैसे हैं।" माया प्यार का क्रोध दिखाती।

निगम की नस-नस में बिजली दौड़ जाती। उसे माया के व्यवहार में परिवर्तन दिखायी दे रहा था। अब माया की आँखें दूसरी आँखों से बच कर निगम को ढूँढ़तीं। अवसर की खोज के लिए एक चुस्ती-सी उसमें आ गयी थी। यह परिवर्तन केवल निगम को ही नहीं, चाची और मुंशी जी को भी दिखाई दे रहा था और इस परिवर्तन का अकाट्य प्रमाण था डॉक्टर साहब का मरीजों को तोलने वाला तराजू। तराजू ने पहले सप्ताह माया के वजन में आधा पौण्ड की बढ़ती दिखायी और दूसरे सप्ताह में एक पौण्ड। अब माया चाची के साथ निगम के साथ होते हुए भी, कुछ दूर घूमने जाने लगी। घूमते समय, ताश खेलते हुए अथवा बरामदे में चहलकदमी करते समय निगम से एक बात कर सकने और आँखें चार कर सकने के अवसर की खोज के लिए माया के मस्तिष्क और शरीर में सदा रहस्य और तत्परता बनी रहती।

जुलाई का तीसरा सप्ताह आ गया। भुवाली निरन्तर वर्षा से भीगी रहती थी। बादल, कोहरा और धुन्ध घरों में घुस जाते थे। सीलन और सर्दी से चाची जोड़ों में दर्द की शिकायत करने लगी थीं। मुंशी जी को भी दमें के दौरे अधिक आने लगे थे। बहुत से बीमार वर्षा से घबरा कर घर चले गये थे। माया और निगम को स्वास्थ्य में सुधार जान पड़ रहा था। निगम और माया के बँगले से प्रायः सौ गज ऊपर का बड़ा पीला बँगला और बायीं ओर के बँगले खाली हो गये।

डॉक्टर की राय थी कि निगम अभी लखनऊ की गरमी में न जाय तो अच्छा ही है और माया को तो अभी रहना ही चाहिए था। उसकी अवस्था तो अभी सुधरने ही लगी थी।

आकाश में घटाटोप बादल बने रहने पर भी माया की आँखों में और चेहरे पर उत्साह के कारण स्वास्थ्य की किरणें फैली रहतीं। माया की आँखों का साहस बढ़ता जा रहा था। जब-तब निगम से 'आँखें चार' हो जातीं। वह भी उनकी सुखद ऊष्णता का अनुभव किये बिना न रहता। शरीर में एक वेग और शक्ति का सुखद अनुभव होता। अपने अस्तित्व और शक्ति के लिए माया का निमन्त्रण पाकर उसे ग्रहण करने, माया को पा लेने की अदमनीय इच्छा होती।

निगम को माया से शायद रोग की छूत लग जाने की आशंका

थी। अपने को यों रोके रहने में भी सन्तोष था। जैसे तेज दौड़ने के लिए उतावले घोड़े की रास खींच कर रोके रहने में शक्ति, सुख और गर्व अनुभव होता है। निगम और माया दोनों जीवन की शक्ति के उफान की अनुभूति से उत्साहित रहने लगे थे।

वर्षा के कारण घूमने का अवसर कम हो गया था। निगम शरीर को कुछ स्फूर्ति देने के लिए छाता लेकर बाजार तक हो आता। माया उसकी आँखों में मुस्कराकर उलाहना देती—"आप तो अकेले ही घूम आते हैं। हमारा घूमना ही बन्द हो गया है। चाची कहीं जा नहीं पातीं।"

दिन भर पानी बरसता रहा। माया ने चाहा कि ताश की बैठक जमे, परन्तु मुंशी जी के दमे के दौरे और 'चाची' के दर्द के कारण जम न पायी। माया ने कई बार बरामदे के चक्कर लगाये। रहा न गया तो निगम के कमरे के दरवाजे पर जाकर पुकारा—"सुनिए!"

निगम ने स्वागत से मुस्कराकर कहा—"आइए।"

झुँझलाहट के स्वर में माया ने शिकायत की—"क्या करें भाई साहब! कोई किताब ही दे दीजिए। बैठे-बैठे दिन नहीं कटता है।"

निगम ने पूछा—"कैसी पुस्तक चाहिए? तस्वीरों वाली!"

"धत्त, बड़े वैसे हैं आप!" निगम ने पत्रिका उठा कर दे दी। उठती अँगड़ाई को दबा कर निगम की आँखों में मुस्कराती हुई माया पत्रिका लेकर लौट गयी।

माया कुछ देर बाद पत्रिका लौटाने आयी।

"पढ़ने में जी नहीं लगता भाई साहब!" मुस्कराकर उसने निगम की आँखों में देखा और फिर आँखें झुकाये और बहुत गहरे दबे स्वर में बोली, "कहीं घूमने नहीं चलते?"

"चलो, कहाँ चलें?" निगम ने वैसे ही स्वर में योग दिया।

"कहीं चलें, ऊपर का पीला बंगला तो अब खाली है।" माया के चेहरे पर सुर्खी दौड़ गयी, "आप नीचे सड़क से घूमकर चले आइए।"

निगम के शरीर का रक्त बिजली का तार छू जाने से खौल उठा। इच्छा हुई समीप खड़ी माया को बाँहों में ले ले, परन्तु स्थान और

औचित्य का भी खयाल आ गया। वह ठिठक गया। बोला—"अच्छा?" शरीर एक नये वेग के रोमांच का अनुभव कर रहा था।

बादल घिरे हुए थे। निगम ने छतरी हाथ में ले ली और रसोई में बैठी चाची को पुकार कर कह दिया—"जरा बाजार तक घूम आऊँ?"

निगम अपने बँगले से सड़क पर उतर गया और घूमकर ऊपर के पीले बँगले की ओर बढ़ गया। बँगले के अहाते में बरसात से अघाई लिली के फूल खूब खिले हुए थे। इससे कुछ दिन पहले बँगले में किरायेदारों के रहते समय निगम, चाची और माया शाम को कुछ दूर घूमने जाकर लौटते समय इस ओर से होकर आ चुके थे। पड़ोसियों के स्वास्थ्य के लिए शुभ कामना करके निगम यहाँ से फूल भी ले जाता था।

बँगला सुना था। बँगले के पिछवाड़े, जरा नीचे माली और नौकरों के लिए बनी छोटी-छोटी झोपड़ियों से धुआँ उठ रहा था। माली संध्या का खाना बना रहा होगा। चढ़ाई चढ़ते समय दम फूल जाने के कारण साँस लेने के लिए खड़े होकर निगम ने घूमकर पीछे की ओर देखा कि माया आती होगी। माया के साहस भरे प्रस्ताव से उसका रोम-रोम सिहर रहा था।

पगडंडी पर कुछ दिखायी न दिया। भीगी घास पर बादल का एक टुकड़ा मचल कर बैठ गया था और नीचे कुछ दिखायी न दे रहा था। बरामदे में कुछ आहट सी पाकर निगम ने देखा, माया सामने के बड़े कमरे के दरवाजे में उससे पहले ही से खड़ी मुस्करा रही थी। माया ने बाँह उठाकर उसे आ जाने का संकेत किया। वह आगे बढ़कर कमरे में चला गया।

एकान्त में माया के इतने निकट होने से उसका रक्त तेज हो गया और चेहरे पर चिनचिनाहट अनुभव होने लगी। माया का सीना भी, चढ़ाई पर तेजी से आने के कारण अभी तक लम्बे श्वासों से ऊपर-नीचे हो रहा था। उसके चेहरे पर ऐसी सुर्खी और सलोनापन

था कि निगम देखता रह गया।

आकाश में घने बादल और धुन्ध से छाये रहने के कारण किवाड़ों और खिड़कियों के शीशों से केवल इतना प्रकाश आ रहा था कि शरीर की आकृति भर दिखायी दे सकती थी।

किरायेदारों के चले जाने के बाद सफेद निवाड़ से बुना खाली पलंग अँधेरे में उजला दिखायी दे रहा था और वार्निश की हुई कुर्सियाँ छाया जैसी लग रही थीं।

माया ने किवाड़ बन्द कर दिये। निगम ने एक घबराहट-सी अनुभव की; जैसे उत्साह में किसी खन्दक को मामूली समझ कर कूद जाने के लिए तैयार हो जाये, पर समीप आकर खन्दक की चौड़ाई से मन दहल जाये! माया उसके बिलकुल समीप आ गयी थी।

माया ने हाँफते हुए पूछा–"हमारा फोटो अच्छा था? सच कहिए?" और वह जैसे चढ़ाई की थकान से खड़ी न रह सकने के कारण धम से पलंग पर बैठ गयी। अँधेरे में भी निगम को उसकी आँखों में चमक और चेहरे की आग्रहपूर्ण मुस्कान बिना देखे ही दिखाई दे रही थी।

निगम का हृदय धक्-धक् कर रहा था। गले में उठ आये आवेग को निगल कर और समझाने के लिए उसने उत्तर दिया–"है तो... ।"

"झूठ! अब देखिए!" पाँव पलंग पर समेटते हुए और पलंग के बीच सरक कर माया ने हाँफते हुए रूँधे स्वर में आग्रह किया। उसकी साड़ी का एक छोर कंधे से पलंग पर गिर गया था। अपने हाथ में लिया 'वह फोटो' पलंग पर, निगम के सामने डालते हुए उसने आग्रह किया–"ऐसा कहाँ है? कब देखा आपने?"

निगम के सिर में रक्त के हथौड़े की चोटें सी अनुभव हो रही थीं। उसके शरीर के सब स्नायु तन गये–क्या हो रहा है? शरम!.. .बीमार लड़की!

"यहाँ आओ!" व्याकुलता से मचल कर माया ने निगम को पुकारा।

माया अपने कुर्ती को खोल देने के लिए खींच रही थी। काजों में फँसे बटन खिंचे जा रहे थे और उसके स्तन चोंच उठाये तीतरों की तरह कुर्ती को फाड़ देना चाहते थे।

बहुत जोर से दिये गये धक्के के विरुद्ध पाँव जमाने का प्रयत्न कर निगम ने कड़े स्वर में उत्तर दिया–"पागल हो!...होश करो!"

माया का चेहरा तमतमा उठा। माया सन्न से निश्चल हो गयी। पिघली हुई आँखें पथरा गयीं और गर्दन क्रोध में तन गयी। श्वास और भी गहरा और तेज हो गया। आधा क्षण स्तब्ध रह कर क्रोध से निगम को घूरकर कड़े स्वर में फुँकार उठी–"तो तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ?"...

वह आँचल को सम्भाले बिना झपाटे से फर्श पर खड़ी हो गयी। दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बाँधे आँसुओं से डबडबाई आँखों में चिनगारियाँ भरकर उसने होंठ चबाकर धमकाया–"जाओ! जाओ! हट जाओ!"

निगम के पाँव तले से धरती निकल गयी। एक कँपकपी सी आ गयी। अवाक्! रह गया।

माया फिर पलंग पर गिर पड़ी। वह अपना सिर बाँहों में छिपाकर औंधे मुँह लेट गयी। उसकी पीठ बहुत जोर की रुलाई से हिल रही थी।

निगम एक क्षण उसकी ओर देखता खड़ा रहा और फिर किवाड़ खोल कर तेज कदमों से चला गया।

निगम अगले दिन चाची के जोड़ों के दर्द की चिन्ता से लखनऊ लौट गया।

माया का ज्वर फिर बढ़ने लगा। डॉक्टर ने सप्ताह भर उसके स्वास्थ्य में सुधार हो सकने की प्रतीक्षा की। ज्वर नहीं रुका।

डॉक्टर ने राय दी–"बरसात की सर्दी और सील आपको माफिक नहीं बैठ रही। दो महीने का मौसम ठीक नहीं। आप आगरा लौट जाइए। सितम्बर के मध्य में लौट सकें तो लाभ हो सकता है... ।"

फिर माया के विषय में कोई समाचार नहीं मिला।

उत्तराधिकारी

दानपुर के इलाके की गरीबी के ख्याल से हरसिंह का परिवार अच्छा खाता-पीता था। उसके बाप और चाचा ने पुश्तैनी जमीन बाँटी नहीं थी। उसके चाचा के लड़के, दो छोटे भाई भी थे। खेती के काम-काज के लिए घर में आदमियों की कमी न थी। उतनी जमीन पर कितने आदमी काम करते? पहाड़ के छोटे-छोटे खेतों में एक आदमी मेहनत करे या दो, फसल की निकासी में कुछ फरक नहीं पड़ता। मर्द खेत जोतकर औरतों के हवाले कर देते हैं और लुनाई तक वे ही उन्हें सँभालती हैं। गोरू और भेड़-बकरी की रखवाली बच्चे कर लेते हैं। उनक सीधे-सादे जीवन की सभी आवश्यकताएँ वहाँ पूरी हो जाती हैं। अपने खेतों के मँडुआ और चुआ का अनाज, गौओं से दूध-घी और घर की भेड़ों के ऊन से कता-बुना कपड़ा। मर्दों के कन्धों से कमर तक, घर के बुने कम्बल का गाता लोहे के एक बड़े सुए से सँभला रहता है। कमर ढकने के लिए कभी हाथ भर और कभी बालिस्त भर चौड़ा कपड़ा। स्त्रियाँ भी ऐसा ही गाता और नीचे मोटा लहँगा पहने रहती हैं। शौक किया तो

गाते के सुए में चाँदी की जंजीर लटका ली।

पहाड़ी देहातों के आपसी विनिमय में रुपये-पैसे की जरूरत प्रायः नहीं पड़ती, परन्तु कुछ काम हैं जो रुपये से ही पूरे होते हैं। सरकारी मालगुजारी, गहना, ब्याह-शादी का दस्तूर और कभी अदालत-कचहरी का काम रुपये के बिना निभ नहीं सकते। दानपुर में ऐसी कोई पैदावार या कारोबार नहीं जो रुपया लाये। जितना पैदा होता है, वहीं खप जाता है। दानपुर में रुपया आता है—कुछ तो निगला की चटाइयों की बिक्री से और खास कर सरकारी खजाने से सिपाहियों की तनखाहों और पेन्शनों के रूप में।

दानपुर की पट्टी खूब फैली हुई है, परन्तु खेती और बस्ती कम, जंगल और पहाड़ ज्यादा। सरकारी खजाने से लगभग दो लाख रुपया सालाना तनखाहों और पेन्शनों के रूप में वहाँ आता है। इस रुपये का मूल्य दानपुरिये अपने जवानों की जिन्दगियों और खून से चुकाते हैं। दानपुरिया जवानों के गठीले, सबल और दृढ़ शरीर, उनकी निर्भयता और भोलेपन के कारण ब्रिटिश साम्राज्यशाही की सेनाओं के लिए भरती करने वाले अफसर इन्हें सदा चाव और पक्षपात की दृष्टि से देखते रहे हैं। वहाँ विरला ही परिवार होगा जिसने सेना को जवान न दिये हों। दानपुर के जवानों की हड्डियों से दूर-दूर देशों की भूमि उर्वरा हुई हैं। दानपुरियों के पास रुपया कमाने का दूसरा उपाय है भी नहीं।

दानपुर में ब्याह कम उम्र में ही हो जाते हैं। हरसिंह का भी ब्याह जल्दी ही हो गया था। उसकी बहू बारह बरस की हुई तो ससुराल आ गयी। घर और खेती का काम बँटाने को दो हाथ और हो गये। हरसिंह के दो चचेरे छोटे भाई भी थे। बहनें गयीं तो बहुएँ आने लगीं। हरसिंह बीस बरस का हो गया था। वह रानीखेत जाकर अंग्रेज सरकार-बहादुर की फौज में भरती हो गया।

हरसिंह के बाप और चाचा निभाते चले आ रहे थे, परन्तु परिवार बढ़ा तो खटपट भी होने लगी। हरसिंह के चाचा के लड़कों का ख्याल था—'काम तो सब हम ही करते हैं, जमीन कहने को

साझी है। ताऊ का लड़का पलटन में चला गया और उसकी तनखाह ताऊ अपनी जेब में रख लेता है।'

हरसिंह का बाप सोचता—'अब मैं लड़के की कमाई से खेत जमीन खरीदूँ तो उसमें हिस्सेदार दूसरे भी होंगे!' आखिर पंचायत में बँटवारा हो गया।

हरसिंह बरस के बरस छुट्टी पर आता और अपनी बहू 'मानी' की भरती हुई जवानी देखता। हरसिंह की बहू पन्द्रह बरस की हो रही थी। उस साल हरसिंह छुट्टी पर घर नहीं आ सका। पड़ोसी गाँवों के दूसरे सिपाहियों में से भी बहुत कम घर आये। हरसिंह छुट्टी पर नहीं आया लेकिन पटवारी के यहाँ से हरसिंह के घर सन्देश आया कि तुम्हारा लड़का लाम पर समुद्र पार चला गया है। तुम डाकखाने जाकर उसकी तनखाह ले लो। हरसिंह जब तक समुद्र पार रहेगा, हर माह इसी प्रकार तनखाह मिलती रहेगी।

मानी ने अपने आदमी के समुद्र पार लाम पर चले जाने की बात सुनी तो उदास हो गयी, पर उदास होकर बैठने से चलता कैसे? घर और खेती का काम तो करना ही था, उदासी हो या खुशहाली! और आँख की ओट जैसा एक कोस, वैसा सौ कोस। यों भी तो बरस में महीने भर को ही आता था।

दो बरस और बीत गये। मानी के शरीर पर ऐसी सुडौल जवानी फूट रही थी कि जिसके पास से गुजरती, एक नजर देखे बिना न रह पाता। गाँव के और पड़ोसी गाँवों के भी अधिकतर जवान सरकारी फौज में भर्ती थे; लेकिन गाँवों में आदमी तो थे ही। मानी लोगों की आँखें पहचानने लगी और आँखों में देखने भी लगी। दिन भर की हाड़-तोड़ मेहनत में जरा हँस लेने, मुस्करा लेने से मन हलका हो जाता था। घर में बूढ़े-बुढ़िया के सामने कब तक मुँह लटकाये बैठी रहे।

मानी के सास-ससुर उसे खेतों और घर के काम-काज में या पशुओं के प्रति बेपरवाही के लिए डाँटते ही रहते थे। अब सास लोगों से बोलने-चालने पर भी डाँटने लगी। कुछ दिन तो मानी इस

डाँट-फटकार को कान के पीछे डाल चुप रह गयी, लेकिन जब उसके आने-जाने पर रोक-टोक लगने लगी तो मानी ने भौंहें टेढ़ी कर जवाब दे दिया—"घर में रहने नहीं देती हो तो बता दो!...दो रोटियाँ ही तो खाती हूँ। मेरे लिए यहाँ क्या रखा है?...जब आयेगा, उसे जो कहना होगा, कह लेगा!...तुम्हें भारी हो रही हूँ, तो कह दो; मेरे भी हाथ-पाँव चलते हैं...दुनिया बहुत पड़ी है।"

इस पर भी जब ससुर ने धमकाया तो सुबह पशुओं के लिए घास काटने जाकर मानी रात को भी न लौटी। ससुर उसे खुशामद कर पड़ोस के गाँव से लौटा लाया। बूढ़ा बदनामी से डर गया और सोचा—बेटा तो लाम पर गया है, यह भी चल दी तो पीछे खेती का काम कौन निभायेगा? घर में कोई बच्चे भी नहीं कि गोरू ही रखा लेता। पानी, ईंधन और पशुओं के लिए घास-पात की मदद से भी जायें।

चार बरस बाद लाम खतम हुई। कुछ सिपाही लौटे और कुछ नहीं लौटे। हरसिंह नहीं लौटा, लेकिन उसकी तनखाह बराबर मिलती रही। खबर मिली—वह लाम में जख्मी हो गया था, अस्पताल में है। चंगा होकर आयेगा।

इसी बीच एक दिन मानी के ससुर के पेट में मरोड़ उठी और वह चल बसा। बुढ़िया बेचारी हलियों से हल जुतवा कर बहू के साथ खेती निभा रही थी। मानी का मन नहीं लगता था। शरीर थकावट से बिखरा-बिखरा जाता था। वह मन को मारती परन्तु पड़ोसी, खास कर जुहार, बेचैन कर देते...वह बेबस हो जाती।

मानी फिर पड़ोस के गाँव चली गयी। जुहार उसे ढाँटी (घरवाली) बैठाने को तैयार था, परन्तु मानी की सास ने जाकर पट्टी के रंगरूटी-हवलदार के सामने दुहाई दी कि उसका बेटा सरकार की नौकरी में खून बहा रहा है और लोग उसकी बहू को भगा ले गये। सरकार हमारा इतना भी ख्याल नहीं करेगी? रंगरूटी-हवलदार को भी पसन्द नहीं था कि जुहार अकेला मानी को सँभाल कर बैठ जाये। हवलदार ने जुहार को धमका दिया। अब मानी से हँसने-खेलने को

तो बहुत लोग तैयार थे, लेकिन उसे अपने यहाँ बसा लेने का साहस किसी को न था।

हरसिंह ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए महायुद्ध में लड़ता हुआ लगभग युद्ध समाप्त होने के समय बुरी तरह से जख्मी हो गया था। उसकी कमर के आस-पास लगने वाले जख्म बहुत पेचीदा थे। विषैली गैस का प्रभाव भी उसके स्वास्थ्य पर गहरा पड़ा था। प्रायः डेढ़ बरस तक फौजी अस्पताल में उसका इलाज होता रहा। वह चलने-फिरने के लायक हो गया परन्तु मर्द नहीं रहा। अंग्रेज सरकार ने उसकी वफादारी और युद्ध में जख्मों से बेकार हो जाने के कारण उसे आधी नौकरी में ही पूरी पेन्शन देकर छुट्टी दे दी।

हरसिंह पूरे साढ़े चार बरस बाद गाँव लौटा। लौटकर देखा, उसका बूढ़ा बाप नहीं रहा था। घर में उसकी माँ, बहू और उसका एक लड़का मौजूद था। अपनी अनुपस्थिति में हो गया लड़का देख हरसिंह क्रोध से झल्ला उठा। उसने सोचा, लड़का उसका होता तो चार बरस से ज्यादा का होता। बच्चा था केवल दो बरस का। हरसिंह की माँ ने माथे पर हाथ मारकर कहा—"...तो मैं क्या करती?...मैं ही जानती हूँ जैसे मैंने इस चुड़ैल को नथिया कर रोके रखा। अब वह सब जाने दे! तू भी तो ऐसे वक्त चला गया...। उसकी जवानी का अन्धड़ था। कौन नहीं जानता बरसात की पहली आँधी में पेड़ गिरा ही करते हैं। अब ढंग से निभा! लड़का है तो जवान भी होगा। अब तेरा ही है...।"

हरसिंह ज्यों-ज्यों इस बारे में सोचता, उसके सिर में खून चढ़ता जाता। उसका व्यवहार मानी से ऐसा था जैसे जेलर का अपराधी से होता है। मानी सिर झुकाये चुप रह जाती या रो देती। जहाँ तक बन पड़ता, वह पति की आँखों से ओझल रहकर घर या खेती काम में उलझी रहती। कभी हरसिंह मानी पर हाथ छोड़ बैठता। मानी वह भी सह जाती, परन्तु हरसिंह का गुस्सा बढ़ता ही जा रहा था। वह मानी की हर बात पर आगबबूला हो जाता। बात-बात में बच्चे को ठोकर

मार देता। मानी और तो सब सह जाती, पर बेकसूर बच्चे पर मार न सह सकती।

मानी ने बच्चे को मारने पर एतराज किया। हरसिंह और भी बिगड़ उठा—"मैं अभी तुझे और तेरे इस हरामी को काट कर फेंकता हूँ...।"

हरसिंह सचमुच छत की धन्नी में खोंसे हुए लकड़ी काटने के दाँव की ओर लपका। मानी के शरीर से मानो सारा रक्त खिंच गया, परन्तु प्रतीक्षा कर गिड़गिड़ाने का अवसर नहीं था। अपने बच्चे को छाती से चिपटा कर वह पूरी शक्ति से भाग गयी।

हरसिंह जब धन्नी से दाँव खींच कर लौटा तो मानी बच्चे को लेकर भाग चुकी थी। उतना तेज भाग कर जवान मानी को पकड़ लेना हरसिंह के सामर्थ्य में नहीं था। होठ काटकर उसने सोचा—भाग गयी...खैर जब लौटेगी...!

मानी साँझ तक नहीं लौटी। माँ ने रोटी तो सेंक दी, परन्तु हरसिंह खा नहीं सका। वह पुआल पर कम्बल बिछा कर लेटा तो दाँव सिरहाने रख लिया। मानी की दुष्टता का बदला लिये बिना वह जिन्दा रहने को तैयार न था। जब मानी आधी रात तक भी न लौटी तो उसे निश्चय हो गया, अब नहीं आयेगी। सोचा—जुहार के यहाँ गयी होगी, जाये! मैं हरजाई को अपने यहाँ नहीं रखूँगा!

दूसरे दिन भी मानी नहीं लौटी तो हरसिंह ने टोह ली। वह सचमुच जुहार के यहाँ गयी थी। वह जुहार के यहाँ पहुँचा। जुहार और उसका भाई हाथ में दाँव लेकर सामने आये और बोले—"बोल क्या करेगा?"

हरसिंह ने कहा—"अच्छा पंचों में फैसला होगा।"

हरसिंह ने पंचायत कराई। पंचों ने तम्बाकू और 'जाग'* का सत्कार पाकर फैसला दिया—मानी हरसिंह की ब्याहता औरत है। जुहार मानी को ढाँटी (घरवाली) रखना चाहता है तो हरसिंह की इज्जत का हर्जाना यानी जर-जेवर की कीमत सौ रुपया दे।

हरसिंह ने भरी पंचायत में जुहार से सौ रुपया लेकर अपनी इज्जत तो बचा ली, पर उसके मन पर लगा घाव पूरा नहीं हुआ।...पर जिन्दगी तो निभानी ही थी। वह चुपचाप जानवरों और खेती का काम करने लगा। अकेले आदमी के लिए इतना काम था कि दिन भर किये पर भी पूरा न होता। हरसिंह के लिए यही अच्छा था। बूढ़ी माँ और बेटा दिन काटने लगे। वे न आपस में बोलते और न किसी दूसरे से ही।

मानी को गये तीन बरस हो चुके थे। हरसिंह ने सब तरफ से ध्यान हटाकर अपनी जमीन में ही आँखें गड़ा दी थीं। सरकारी कायदे से उसने अपनी जमीन से लगती बेनाप जमीन तोड़कर पाँच नाली खेत और बना लिये। अपनी दोनों भैंसों का घी जमा कर बेचता रहा और तीन बरस की पेन्शन का रुपया जमाकर उसने वारिसों से भी पाँच नाली खेत और खरीद लिये।

गाँव के लोग उसकी इन बातों पर हँसते—'अकेली तो जान है।..किसके लिए कर-कर के मर रहा है। चरस की चिलम के लिए एक पैसा भी खर्चने में जान निकलती है।' वारिसों ने भी इसी ख्याल से जमीन सस्ती दे दी कि मुफ्त का रुपया दे रहा है तो क्यों न लें?...इसके आँख बन्द करने पर तो जमीन अपनी ही होगी।.दस नहीं तो पन्द्रह बरस और जोत लेगा, फिर तो इसकी कमाई अपने ही बाल-बच्चों के हाथ आयेगी।...इसका कौन है? क्या छाती पर रख कर ले जायेगा?

उसके वारिसों और गाँव वालों ने सुना कि हरसिंह इस उम्र में ढाँटी के लिए औरत ढूँढ़ रहा है तो हैरान रह गये। जाड़े के दिनों में जब खेती, फसल और ईंधन कटाई का कोई काम नहीं था, हरसिंह छह-सात दिन के लिए रंगोड़ की तरफ गया। एक महीने के बाद फिर छह-सात दिन के लिए उधर गया और सचमुच एक तेईस-चौबीस बरस की, कुछ बीमार-सी, दुबली-पतली सी जवान खूबसूरत औरत को ले आया।

गाँव के लोग हैरान रह गये और हरसिंह के वारिसों के कलेजे पर तो साँप लोट गया, लेकिन क्या कर सकते थे। हरसिंह ने पंचायत में कह दिया कि हर्जाना भर के यानी जर-जेवर की कीमत तार कर औरत को लाया है। लोगों ने हर्जाने की रकम तीन सौ सुनी तो हैरान रह गये।

'कपकोट' के पास हरसिंह ने एक रात जिस किसान के यहाँ डेरा किया था, रात में तम्बाकू पीते हुए उसी को अपनी परेशानी कह सुनाई कि इतनी जमीन, गोरू और धन (भेड़-बकरी) है, लेकिन वह पलटन में था तो उसकी घरवाली को लोग बहका ले गये। वह घर बसाने के फेर में है।

उसके यजमान (मेजबान) किसान ने सिर पर हाथ मार अपना दुखड़ा सुनाया कि उसने अपनी लड़की कुशली, नरमा गाँव के अच्छे खाते-पीते किसान को ब्याही थी। बेचारी के दो बच्चे भी हुए पर देवता की माया से दोनों जाते रहे। उस कमबख्त ने दूसरा ब्याह कर लिया है और उनकी लड़की को दूर गाँव की अपनी जमीन में डाल दिया।...उसे बुरी आदतें हैं, शराब पीता है, जुआ खेलता है। कर्जे में 'सीगल' की अपनी जमीन बेच दी। कुशली को सौत के यहाँ ले गया। सौत उसे सहती नहीं। कहती है, अपने बच्चे खा गयी; इसकी छाया मेरे बच्चों को बुरी है। एक रोज उसे दोनों ने मारा। बेचारी रोती हुई आकर मायके बैठ गयी...।

हरसिंह कुशली के आदमी को जर-जेवर का खर्चा देकर कुशली को ढाँटी बसाने के लिए तैयार हो गया। उसने बूढ़े से कहा—"तू उसके आदमी से बात कर ले, मैं खर्चा लेकर आता हूँ।"

कुशली का आदमी औरत से जान छुड़ाना चाहता था, लेकिन हर्जाना माँगा तो इतना ज्यादा! हरसिंह ने पंचों के सामने हर्जाना गिन दिया और कुशली को ले आया।

हरसिंह के यहाँ आकर कुशली पनप गयी। उसके चेहरे पर भी सुर्खी आ गयी। वह खुशी-खुशी घर और खेती का काम करती।

हरसिंह उसे बड़ी खातिर से हाथों-हाथ रखता, परन्तु उसकी गोद भरने का कोई लक्षण दिखाई नहीं दे रहा था। गाँव के जवान उससे भाभी का रिश्ता जोड़कर उच्छृंखलता दिखाते। वह होंठ दबाकर आँख फेर लेती। उसे चिढ़ाने के लिए गाँव की औरतें हरसिंह की कमर में गाली लगने की बात बता कर कहतीं—"...यों ही ब्याह किया है इसने तो!"

कुशली के पास एक ही जवाब था—"तो फिर तुम्हें क्या?"

उस बरस जाड़े की फसल बो देने के बाद हरसिंह अल्मोड़ा गया। वह जानता था कि डॉक्टर लोग चीर-फाड़ के अलावा और कुछ नहीं जानते, लेकिन देशी वैद्य-हकीमों के पास ऐसी जड़ी-बूटी होती है कि जो चाहे कर दें। एक 'खानदानी' वैद्य जी ने उससे इक्कीस रुपये लेकर इक्कीस पुड़िया ऐसी दवाई दे दी कि लोहा खा ले तो पच जाये और पत्थर में छेद कर दे...।

लौटकर लोगों के हँसने की परवाह न कर हरसिंह ने कुशली का बाँझपन दूर करने के लिए देवता का जागर भी कराया। कुशली चुप रही; क्या कर सकती थी? सोचा, देवता की करनी का क्या अन्त!

जब एक बरस और निष्फल बीत गया तो हरसिंह ने कुशली को समझाया—"बालेश्वर के देवता की सबसे बड़ी मानता है। तू वहाँ जाकर दिया जला आ!"

कुशली ने उसे समझाया—"क्यों हँसी कराते हो? तुम्हारे चोट लगी है तो क्या हो सकता है?"

परन्तु हरसिंह का इस तर्क से समाधान नहीं हुआ।...यह सब खेत-जमीन आखिर किसके लिए थे? वह सन्तान चाहता था। उसे सन्तान की उत्कट चिन्ता थी जैसी महाराज दशरथ को अपना सिंहासन सूना हो जाने की आशंका से और महाराज शान्तनु को अपना वंश निर्मूल हो जाने के भय से। वह 'पुत्रेष्टि यज्ञ' कैसे न करता? उसने कुशली को समझाया—क्या यह सब काम, मकान, गोरू, खेत, जमीन दूसरों के लिए छोड़ जायेंगे...?

वैशाख-पूर्णिमा के दिन बालेश्वर महादेव की पूजा का अपार माहात्म्य होता है। हरसिंह ने कुशली को ले जाकर उसी अवसर पर दिया जलाने का निश्चय किया था, परन्तु भाग्य की बात; एक विषैला काँटा हरसिंह की पिंडली में चुभ जाने के कारण उसका पाँव इतना सूज गया था कि उसके लिए चलना असम्भव हो गया।

हरसिंह ने कुशली को समझाया—"देवता के यहाँ जाने का संकल्प किया है तो उसे झूठा करने से देवता का कोप होगा।...जाने क्या अनिष्ट हो जाये! तू अकेली ही जा। तू देवता की ड्योढ़ी को जा रही है तो वही रक्षा करेगा। बालेश्वर में मेला है। तू लहँगे का कपड़ा और दो-चार चीज गले और हाथ की भी खरीद लेना। डर किस का है? अंग्रेजी राज है। सड़कों पर हरदम आदमी चलते हैं। मुसाफिर दुकानों में ठहरते ही हैं। तकलीफ न करना। चाहे जितना रुपया ले जा दस, बीस, पचास! अपना यह सब कुछ है किसके लिए? जब घर में अँधेरा है तो धन-जमीन का क्या?"

अकेली लम्बे सफर पर जाते कुशली का मन सहम रहा था परन्तु जब आदमी न माना तो क्या करती? बेचारी चली। जिस राह हरसिंह के साथ नरमा से आयी थी, उसी राह चली जा रही थी। कुछ दूर जाने पर अल्मोड़ा जाते स्त्री-पुरुषों का साथ हो गया और फिर मेले में जाने वाले यात्री मिलने लगे।

वैशाख-पूर्णिमा के दिन बालेश्वर में बाँझ स्त्रियाँ अंजली में दीप जलाकर मन्दिर के द्वार के सामने जल में दिन-रात, चौबीस घण्टे दीपक की ओर टकटकी लगाये खड़ी रहती हैं। इस कड़ी तपस्या से स्त्रियों के सिर में चक्कर आ जाता है। वे डगमगा जाती हैं। ठण्डे पानी में पाँव सुन्न हो जाने से वे गिर पड़ती हैं। तपस्या भंग हो जाने से न केवल देवता का वरदान नहीं मिलता, वरन् देवता के शाप का भय रहता है, इसलिए तप करने वाली स्त्रियों के घर की स्त्रियाँ और सम्बन्धी उन्हें कन्धों और पीठ से सहारा देने के लिए साथ खड़े रहते हैं।

कुशली बेचारी अकेली थी। उसे कौन सहारा देता परन्तु वह

आयी थी देवता से सन्तान माँगने; दिया लेकर तप करने खड़ी कैसे न होती! जब और स्त्रियाँ अंजली में दीपक लेकर मन्दिर के सामने जल में खड़ी हुईं तो वह भी खड़ी हो गयी।

घड़ियों पर घड़ियाँ बीतने लगीं। कुशली अंजली में दीपक लिये, लौ की ओर टकटकी लगाये खड़ी थी। आस-पास खड़ी जवान लड़कियाँ और स्त्रियाँ डगमगाने लगीं और लोग उन्हें सहारा देने लगे। कोई-कोई रोने और चिल्लाने भी लगीं परन्तु उनके सम्बन्धी उन्हें थामे रहे। कुशली को सहारा देने वाला कोई नहीं था। वह पत्थर की मूर्ति की तरह खड़ी रही। आधी रात बाद उसे जान पड़ने लगा कि उसकी पिंडलियाँ बरफ के पैने फलों से कटी जा रही हैं। वह तना कट कर गिर जाने वाले पेड़ की तरह गिर पड़ेगी। उसने अपने दाँत दबा लिये, वह नहीं गिरेगी। उसे अनुभव हुआ उसका शरीर हिल रहा है। उसने निश्चय किया, वह डिगेगी नहीं। कुशली को मालूम हुआ—सामने का मन्दिर हिलने लगा, हिलकर कबूतर की तरह तालाब के चारों ओर उड़ने लगा, पहाड़ भी झूले की चरखियों की तरह घूमने लगे परन्तु वह कहती रही—"नहीं गिरूँगी, नहीं गिरूँगी"...सचमुच गिरने लगी तो उसने सहायता के लिए पुकारा परन्तु होठ खुल नहीं पाये। उसे अपनी अंजली का दीपक दिखाई नहीं दे रहा था। आँखों के सामने बादल छा गये थे. ..वह गयी!...फिर मालूम हुआ कि थम गयी। किसी ने उसे थाम लिया; उसे जान पड़ा, देवता ने उसे थाम लिया।

जब जोर-जोर से घण्टे-घड़ियाल और शंख बजने लगे तो उसे मालूम हुआ कि उसकी अंजली से दीपक हट गया। कोई उसे घसीट कर जल के बाहर ले जा रहा है, कोई उसे थामे हुए है। वह जमीन पर बैठा दी गयी। कोई जोर-जोर से उसके पाँवों और पिंडलियों को मल रहा है। वह अनुभव कर रही थी, परन्तु उसके न हाथ हिल सकते थे और न होठ।

कुशली के कानों में सुनाई दिया—"ले चाय पी ले।" गरम-गरम चाय उसके होठों से लगी और जीभ तक बह गयी। गले में पहुँचने

पर गले ने घूँट भर लिया। तब उसके होठ और घूँट भर सके।

कुशली को दिखाई देने लगा तो जाना कि कोई आदमी उसका सिर मल रहा है, कभी उसकी पिंडलियों को मलने लगता है। वह सिमट गयी। मुँह से बोले बिना उसने आदमी के हाथ हटा दिये।

आदमी हँस दिया और बोला—"थाम नहीं लेता तो गिर नहीं पड़ती?"

कुशली ने अधखुली आँखों से उसकी ओर देखकर आँखें झुका लीं; मानो कह रही हो, ठीक कहता है, तूने बड़ी दया की।

सूर्य की किरणें जमीन पर फैल गयी थीं। कुशली को इन किरणों से आराम मिल रहा था। वह अपनी पीठ किरणों की ओर कर लेटी रही।

वह आदमी अपना कम्बल वहीं छोड़ उठकर कुछ दूर गया और लौटा तो पत्ते पर गरम जलेबी लिये था। बोला—"ले, यह खा ले! जिस्म में गरमी आ जायेगी।"

कुशली धूप में मन्दिर के हाते की दीवार से पीठ लगा बैठ गयी और जलेबी खाने लगी। अब सुध आने पर कुशली ने उसे पहचाना।...पिछले दो पड़ाव से यह आदमी यात्रियों में उसके साथ ही था। कुशली को अकेले देख कर उसने पूछा था—"तू इतनी दूर से अकेली कैसे आयी?"

उस समय कुशली ने जवाब दिया था—"ऐसे ही!...तुझे क्या? परन्तु अब वह बात करने लगा तो कुशली सब कुछ बताती गयी।

दोपहर तक कुशली की तबियत ठीक हो गयी तो उस आदमी ने कहा—"जरा उठ, चल मेला देखें।"

कोई औरत अकेले नहीं घूम रही थी। कुशली भी उस आदमी के साथ घूमने लगी। उसे देवता की पूजा ठीक से हो जाने का सन्तोष था। उसने लहँगे का कपड़ा खरीदा, गिलट के खड़ुए और पीतल का मुलम्मा चढ़ा गुलूबन्द भी। वह आदमी रखवाली में उसी के साथ बना रहा कि कोई उसे ठग न ले, जैसे वह उसी का आदमी

हो। कुशली को झेंप मालूम होती पर अच्छा भी लगता, अकेले भी तो अच्छा नहीं लगता।

रात गये तक मेला होता रहा। जगह-जगह गैस जल रहे थे। कुशली को जान पड़ रहा था कि दिन से ज्यादा और अच्छी रोशनी हो रही है। उस आदमी ने कुशली को सेब, पूरियाँ और मिठाई खिलाई। ऐसा तमाशा और मजा कुशली ने कभी नहीं देखा था। वह कभी थक कर उस आदमी के साथ बैठ जाती और कभी घूम कर तमाशा देखने लगती।

नींद का समय आया। कुशली राह में जिन यात्रियों की भीड़ के साथ आयी थी, उन्हें खोजने लगी। गनेरसिंह ने, यही उस आदमी का नाम था, कहा—"अरे, क्या ढूँढ़ती है। कौन वो तेरे सगे हैं?" चारों तरफ पेड़ों के नीचे लेटे आदमियों की ओर संकेत कर उसने कहा, "हम लोग भी ऐसे ही कहीं एक तरफ पड़ रहेंगे।"

"नहीं," कुशली ने कहा। उसे डर-सा लगा।

गनेरसिंह ने जिद्द की—"हमारी इतनी-सी बात नहीं मानेगी?" कुशली चुप रह गयी तो उसने धीमे-से मजाक किया, "तो फिर इतनी तकलीफ करके दिया क्यों जलाया था?...देवता का वरदान खाली जायेगा?"

कुशली को लज्जा से मधुर कँपकँपी-सी आ गयी। "हट्ट," उसने सिर झुका पीठ फिरा कर कहा और चुप रह गयी।

दूसरे दिन एक पहर दिन चढ़े वे दोनों मेले से तो गीत गाते लोगों की भीड़ के साथ नहीं, पीछे-पीछे, अलग-अलग से चल रहे थे। कुशली जानती थी उसे मीलों चल कर फिर हरसिंह के ही पास जाना है लेकिन इस आदमी का साथ अच्छा लग रहा था। उसका बोल, उसकी नजरें उसके पसीने की गन्ध; सुहानी-सुहानी, मर्द जैसी! कुशली को ऐसा जान पड़ रहा था, देवता की तपस्या से पाया वरदान उस पर छा कर उसके शरीर को बोझिल और शिथिल किये दे रहा हो। वह बोझ ऐसे ही प्यारा लग रहा था जैसे भारी गहनों का बोझ हो। वह बैठने की जगह देख बार-बार बैठ जाती। वह इतनी शिथिलता से

चली कि बड़ी कठिनता से वे एक ही पड़ाव पार कर सके।

अगले दिन गनेरसिंह ने अधिकार के स्वर में कहा—"अब तू दानपुर की बीहड़ पहाड़ियों में कहाँ जायेगी? मेरे घर चल। मेरी सैणी (घरवाली) पिछले साल डेढ़ बरस का लड़का छोड़कर मर गयी है। उसे भी पालना और अपने पेट को भी!...मेरी पच्चीस नाली जमीन है, भैंस है, गाय है, बैल है। तू मुझे देवता ने दी है। चल कर मेरा घर बसा।...मैं तुझे नहीं जाने दूँगा!"

कुशली रो पड़ी परन्तु इस रोने में अभिमान और सुख था। फिर उदास होकर बोली—"नहीं, मैं तो जाऊँगी। वो भला आदमी है!...गम करेगा। उसने मेरी ढाँटी के तीन सौ दिये हैं।"

गनेरसिंह नहीं माना—"वो क्या तेरा आदमी है...? तेरा आदमी तो मैं हूँ। मुझे गम नहीं लगेगा। मैं तेरी ढाँटी का हर्जाना भर दूँगा, चाहे जितनी जमीन बेच दूँ।" उसने कुशली को बाँहों में कस लिया और बोला—"बोल, मेरा घर उजाड़ेगी?...मेरी नहीं है तू?"

कुशली बोल नहीं पायी, चुप रह गयी। उसे हरसिंह का बहुत ख्याल था, पर गनेरसिंह की जिद्द से अभिमान अनुभव हो रहा था। वह उसके साथ चली जा रही थी। दिल कहता था, दानपुर चल; पाँव चले जा रहे थे गनेरसिंह के गाँव की ओर।

बारह दिन बीत गये और कुशली बालेश्वर से नहीं लौटी तो हरसिंह को चिन्ता होने लगी। पन्द्रह दिन भी बीत गये तो वह परेशान हो गया। मन को समझाता, राह में माँदी ही पड़ गयी हो; दो-चार दिन में आती होगी। उसे रात-रात भर नींद न आती। सोचता—क्या हो गया उसे, कहाँ चली गयी? यहाँ ही लोग उसे तकते रहते थे। थी तो बड़ी भली!...आखिर है औरत की जात!

हरसिंह को निश्चय हो गया कि कुशली चली गयी और सिर्फ औरत नहीं, उसका देवता से पाया उत्तराधिकारी लड़का भी चला गया। उसे जख्मी होने के कारण अपने शारीरिक असामर्थ्य का भी

ख्याल आता था, परन्तु फिर अपने अधिकार की बात सोचता—है तो मेरी औरत! उसे यह भी पछतावा हुआ कि उसने भरी गोद मानी को घर से क्यों निकाल दिया था। आज उसका लड़का कितना बड़ा हो गया है। गोरू चराता कितना अच्छा लगता है! उस लड़के को देखकर हरसिंह के मन में स्नेह उमड़ने लगता पर उसकी बात करके अपनी हँसी कराने से क्या लाभ था?

हरसिंह का पाँव अब ठीक हो गया था। वह कुशली का पता लगाने बालेश्वर की ओर चल दिया। पन्द्रह दिन बाद लौटा तो अकेला, चेहरे पर गहरी थकान और परेशानी लिये। खेतों में फसल तैयार हो रही थी, इसलिए बहुत दिन के लिए घर नहीं छोड़ सकता था। उसकी बूढ़ी माँ के हाथ-गोड़ अब कठिनता से चलते थे। वह दस-पन्द्रह मील के चक्कर में घूम कर पता लेता रहा। जेठ में मंडुआ बो देने के बाद उसने जानवरों की रखवाली बुढ़िया के सिर छोड़ी और रंगोड़ की ओर चालीस मील का चक्कर लगा आया, पर निष्फल।

उसके गाँव वालों और वारिसदारों ने समझाया कि जो औरत तेरे घर नहीं बसती, उसके पीछे तू क्यों परेशान है। हाँ, इस बात में सब सहमत थे कि कुशली को जो रखे, वह हरसिंह का हर्जाना भरे, परन्तु मालूम तो हो कि बालेश्वर से कुशली को कौन, कहाँ ले गया? अगर अल्मोड़ा-रानीखेत की राह हल्द्वानी पार कर देश में उतर गयी तो फिर क्या पता चलता है। शहर के बीहड़, गुंजानों में कहीं आदमी की गिनती हो सकती है या उसके ठौर-ठिकाने का पता लग सकता है? लेकिन हरसिंह हाथ पर हाथ रख बैठने के लिए तैयार नहीं था। उसके वारिस निःशंक थे कि उसके औलाद हो नहीं सकती, इसलिए उसे प्रसन्न करने के लिए कुशली का पता लगाने के लिए तैयार हो गये।

सवा बरस बीत चुका था कुशली को गये। पड़ोस के गाँव 'सौवट' का ब्राह्मण कृपादत्त पिथौरागढ़ किसी गवाही में गया था। उसने लौटकर हरसिंह को खबर दी कि मैं कटेरा गाँव के पड़ोस से गुजर रहा था तो बाट में कुशली घास का बोझ लिए मिली थी। मैंने

पूछा—"कैसे चली आयी?" पहले चुप रह गयी, फिर आँखों में आँसू भर बोली, "जब तक वहाँ थी तो भली थी, अब आ गयी तो आ ही गयी।" तुम्हारे लिए कहती थी, "आदमी तो बेचारा भला है परन्तु सब लोग जानते हैं कि अंग-भंग है।"

मैंने कहा कि हरसिंह का हर्जाना तो मिलना चाहिए तो बोली—"जो मुझे लाया है, वह हरजाना भरेगा क्यों नहीं? नहीं होगा, जमीन बेच कर भरेगा। अब मैं क्या करूँ?" उसकी गोद में लड़का भी है। उसके आदमी का नाम-ठिकाना सब पता ले आया हूँ। अदालत में हरजाने का दावा कर दे। औरत का अब क्या है, वहाँ बस गयी। उस आदमी से उसका लड़का भी है। अब उसे गनेरसिंह की ही औरत समझ, पर तेरा हरजाना तो मिलना चाहिए। तीन सौ कम भी तो नहीं होता।

हरसिंह ने सब बात ध्यान से सुनकर कहा—"देखूँगा महाराज!"

फसल का मौका था इसलिए हरसिंह चुप रहा। लोगों ने समझा, मन मार गया परन्तु हरसिंह माना नहीं था। उसने अवसर देखकर अपने गाँव के तीन-चार आदमियों को लिया और कटेरा पहुँचा।

गनेरसिंह ने कहा—"भाई मैं झगड़ा नहीं करता। तू अंग-भंग है। औरत अपनी खुशी से मेरे साथ आयी है। पंचायत जो कहे, हरजाना भरने को तैयार हूँ।"

हरसिंह ने सिर हिलाकर कहा—"मैं हजार रुपया भी हरजाना लेने को तैयार नहीं। मैं तो अपना लड़का लेने आया हूँ।"

"तेरा लड़का?" गनेरसिंह विस्मय से होठ और आँखें फैलाये रह गया।

आखिर पंचायत बैठी। हरसिंह बच्चे को माँग रहा था।

पंचों ने कहा—"बच्चा तुम्हें कैसे दिला दें। औरत के तेरे घर से जाने के बरस भर बाद लड़का हुआ है। लड़का तेरा कैसे होगा?... औरत तेरे साथ जाने को तैयार नहीं। कोई भैंस-बकरी तो है नहीं जो बाँध कर भेज दें! हाँ, तू हर्जाने का हकदार है।"

हरसिंह ने पंचों से न्याय माँगा—"पंचो, जब तक मेरा हर्जाना

नहीं मिला, औरत मेरी रही। हर्जाना मिलने के बाद लड़का होता, तो मेरा नहीं था।"

पंचों ने कहा—"औरत तेरी थी, पर तेरे घर में तो नहीं थी।"

हरसिंह ने फिर दुहाई दी। उसने जमीन पर लकीर खींच कर कहा—"पंचो न्याय करो! यह जमीन लकीर से इस पार मेरी और लकीर से उस पार गनेरसिंह की। मेरे खेत की ककड़ी की बेल फैल कर गनेरसिंह के खेत में चली गयी। बोलो पंचो, ककड़ी किसकी मानोगे?...जिसकी बेल उसकी ककड़ी...जिसकी औरत उसका बच्चा! हरजाना देने से पहले औरत को गनेरसिंह की ढाँटी मानते हो, तो बच्चा उसका! मैं अपना लड़का लूँगा। लड़के की माँ आती है, मेरे सिर-आँखों पर आये; नहीं आती तो उसका मन! मैं हरजाने का एक पैसा माँगूँ तो मेरे लिए गाय का खून! पंचो, यह परमेश्वर का न्याय है, नहीं तो अंग्रेज बहादुर की अदालत है। पंच न्याय नहीं देंगे तो हरसिंह अंग्रेज की अदालत में जायेगा। मेरा घर-बार है, जमीन-जायदाद है, मैं लड़के के बिना मरूँगा?...मुझे पानी की अंजली कौन देगा?"

पंचों ने एक-दूसरे की ओर देखा और स्वीकार कर लिया कि जब औरत हरसिंह की थी तो लड़का भी हरसिंह का है।

कुशली एक ओर बैठी थी। पंचों का फैसला सुना तो बच्चे को छाती से चिपटा कर चीख उठी—"मैं अपना बच्चा किसी को नहीं दूँगी।"

हरसिंह के स्वर में क्रोध नहीं था, धमकी नहीं थी, पंचायत का न्याय जीत लेने का अभिमान भी नहीं था। मुलायम शब्दों में उसने कुशली को समझाया—"अरी भागवान, तेरा बच्चा कौन छीनता है तुझसे? अपने घर चल। तू उस घर की मालकिन है!"

हरसिंह अपने एक बरस के उत्तराधिकारी को बड़े लाड़ और सन्तोष से गोद में उठाये दानपुर की ओर चला जा रहा था। कुशली उसके पीछे-पीछे चली आ रही थी, जैसे नयी ब्याई गैया अपना बछड़ा उठाये ग्वाले के पीछे चली जाती है।

❑❑